हिन्दी त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३६ अंक ३

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई–अगस्त–सितम्बर

१९९८

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३६ अंक ३ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११५ वीं तालिका)

४१५१. श्री सुरेश डी. चौधरी, ठाणे (महा.)
४१५२. श्री कृष्णदास नीमा, इन्दौर (म. प्र.)
४१५३. श्री विकाश कुमार चौहान, पछवागाँव, इटावा (उ. प्र.)
४१५४. श्रीमती शैलजा अरुण पटोरे, इन्दौर (म. प्र.)
४१५५. श्री अजमल सिंह ए. पुरोहित, इचलकरण, कोल्हापुर (महा.)
४१५६. श्री जे. एस. राणे, भिलाई नगर, दुर्ग (म. प्र.)
४१५७. श्री सुधीर मिश्रा, बिलासपुर (म. प्र.)
४१५८. श्री शंकर निनाजी डिनगे, खरबड़ी, बुलढाणा (महा.)
४१५९. श्री गोपाल दास बाबा, रामटेक, नागपुर (महा.)
४१६०. श्री ओ. पी. व्यास, जोधपुर (राजस्थान)
४१६१. श्रीमती मेधा ठाकरे, जबलपुर (म. प्र.)
४१६२. श्री एस. के. गोखले, इन्दौर (म. प्र.)
४१६३. श्रीमती अरुणा डोगरा, चण्डीगढ़
४१६४. श्री अजय कुमार शुक्ला, चाम्पा, बिलासपुर (म. प्र.)
४१६५. डॉ. सी. एल. साहू, टाटीबन्ध, रायपुर (म. प्र.)
४१६६. श्री रामकेवल सिंह, खजूरी, मवई, गोण्डा (उ. प्र.)
४१६७. श्री आत्मबोध अग्रवाल, समता कालोनी, रायपुर (म. प्र.)
४१६८. श्री नरसिंह भाई के. पटेल, हिम्मतनगर, साबरकाठा (गुज.)
४१६९. श्री आनन्द चक्के, दादाबाड़ी, कोटा (राजस्थान)
४१७०. राजस्थान इलेक्ट्रिकल स्टोर्स, सदरबाजार, रायपुर (म. प्र.)
४१७१. श्री नृसिंहदास के. महाजन, महेश्वर, खरगोन (म. प्र.)
४१७२. श्री कैलासनाथ राय, मुजफ्फरपुर (म. प्र.)
४१७३. श्री सुरेश कुमार चामीजा, मुम्बई (महा.)
४१७४. श्री ऊर्ध्व उत्कर्ष गोलवलकर, जबलपुर (म. प्र.)
४१७५. मे. दत्त डेयरी एवं स्वीट, महेश्वर, खरगोन (म. प्र.)
४१७६. श्री भालचन्द्र परशुराम तिवारी, बड़वाह, खरगोन (म. प्र.)
४१७७. श्री आइ. बी. उपाध्याय, जयन्त कोइलरी, सीधी (म. प्र.)
४१७८. श्री विजय कुमार बघेल, कोरबा, बिलासपुर (म. प्र.)
४१७९. श्री विनोद कुमार जालान, समता कालोनी, रायपुर (म. प्र.)
४१८०. श्री जवाहरलाल श्रीलाल दुबे, अमरावती (महाराष्ट्र)

शुभ सूचना

'विवेक-ज्योति' के पाठकों को सूचित करते हुए हर्ष होता है कि आगामी जनवरी से यह पत्रिका मासिक होने जा रही है अर्थात अगले वर्ष से इसका प्रतिमाह प्रकाशन होगा।

इसके प्रति अंक का मूल्य रु. ५, वार्षिक शुल्क रु. ५० तथा आजीवन शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित किया गया है। अतः अगले वर्ष के लिए सहयोग राशि रु. ५०/- ही भेजें। मनिआर्डर फार्म अगले अंक के साथ भेजा जायगा।

जिन ग्राहकों ने इसके पूर्व १००, २०० या ३०० रुपये की दर से आजीवन ग्राहकता शुल्क जमा किये हैं, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का यथाशीघ्र एक वर्ष के भीतर भुगतान कर दें। जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायगी, उन्हें आगे के पच्चीस वर्षों के लिए आजीवन सदस्य बना लिया जायगा।

आजीवन ग्राहकों के नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने की हालत में वार्षिक शुल्क (रु. ५०) की दर से उनकी जमा राशि में से काट लिया जायगा और राशि समाप्त हो जाने पर उन्हें अंक भेजा जाना स्थगित कर दिया जायगा।

जिन पुराने आजीवन ग्राहकों के २५ वर्ष पूरे हो जायेंगे, उन्हें अंक भेजना यथासमय स्थगित कर दिया जायगा।

— *व्यवस्थापक*

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई–अगस्त–सितम्बर

◆ १९९८ ◆

वर्ष ३६ अंक ३

आशा हि परमं दुःखम्

खलालापाः सोढ़ाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्वाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ।
कृतो वित्तस्तम्भप्रतिहतधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ।

अन्वय – (अपनी स्वार्थ-सिद्धि हेतु मैंने) खल-आलापा: (दुर्जनों के कितने दुर्वचन और), तद्-आराधन-परै: (उनकी सेवा में तत्पर होकर) कथम् अपि (कितने ही प्रकार के कष्ट) सोढ़ा: (सहन किये); (उनके उपहास तथा अपमान से निकलनेवाले) अन्त:-वाष्पं (भीतर के आँसुओं को) निर्गृह्य (रोककर) (मैं) शून्येन मनसा (सूने हृदय से) हसितम्-अपि (हँसता भी रहा); वित्त-स्तम्भ-प्रतिहत-धियाम् (धन के मद से जड़ीभूत विवेकवाले व्यक्तियों के सामने) अञ्जलि: अपि (हाथ जोड़कर भी) कृत: (रहा) । मोघ (हे व्यर्थ की) आशे (तृष्णे!) त्वं माम् (तू मुझे) अत: अपरम् (इससे अधिक) किं (क्या) नर्तयसि (नचायेगी)?

अर्थ – अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मैंने दुर्जनों के कितने दुर्वचन और उनकी सेवा में तत्पर होकर कितने ही प्रकार के कष्ट सहन किये; उनके उपहास तथा अपमान से निकलनेवाले भीतर के आँसुओं को रोककर मैं सूने हृदय से हँसता भी रहा; धन के मद से जड़ीभूत विवेकवाले व्यक्तियों के सामने हाथ जोड़कर भी खड़ा रहा । हे व्यर्थ की तृष्णे! तू मुझे इससे अधिक क्या नचायेगी?

– भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ४

गीति-वन्दना

– १ –

(केदार-रूपक)

हे रामकृष्ण दयानिधे चरणों में आश्रय दीजिए,
मम दीन आकुल प्रार्थना, सुनकर भी क्यों न पसीजिए ।।

आया हूँ सब कुछ छोड़कर, अपनों से नाता तोड़कर,
स्वीकार कर निज गोद में, दुख दूर मेरे कीजिए ।।

संग भेंट-पूजा कुछ नहीं, नाराज ना होना कहीं,
यह तुच्छ जीवन आपका, स्वीकार ही कर लीजिए ।।

मैं दीन और मलीन हूँ, जलहीन मानो मीन हूँ,
अब हे सुधासागर प्रभो, सुख आप ही में है जिए ।।

– २ –

(आसावरी-कहरवा)

जपो मन रामकृष्ण अविराम ।
जो चाहो सुख-शान्ति जगत् में, पूरन सबविध काम ।।

परम मधुर प्रिय अमिय प्राण का, औषध भव से परित्राण का,
देता है यह मंत्र अलौकिक, तन-मन को विसराम ।।

दीन-दुखी आश्रित जन तारक, पाप और सन्ताप निवारक,
भक्तजनों का एकमात्र यह, चिन्मय चिर सुखधाम ।।

श्रद्धा-भक्ति जगाये नर में, प्रज्ञा दीप जलाये उर में
पाने को यह चिर अमोल धन, लगता नहीं छदाम ।।

तजकर जग की माया विषमय, जनम-मरण से होकर निर्भय,
रखना सदा नाम जिह्वा पर, मधुमय आठों याम ।।

– विदेह

अग्नि-मंत्र

(मुहम्मद सरफ़राज हुसैन को लिखित)

अल्मोड़ा,
१० जून, १८९८

प्रिय मित्र,

आपका पत्र पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और मुझे यह जानकर अति आनन्द हुआ कि भगवान चुपचाप हमारी मातृभूमि के लिए अभूतपूर्व चीज़ों की तैयारी कर रहे हैं। चाहे हम उसे वेदान्त कहें या किसी अन्य नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार के क्षेत्र में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों तथा सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य में प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने ही इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैत – जो सम्पूर्ण मानवजाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है तथा उसी के अनुरूप आचरण करता है – का विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी बाकी है।

इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, इस समानता को उचित अंश में ला सके हैं, तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी ही हैं – यद्यपि सामान्यतः जिस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे आचरण का अवलम्बन है, उसके गम्भीर अर्थ से वे अनभिज्ञ हैं, जिसे कि हिन्दू साधारणतः स्पष्ट रूप से समझते हैं।

इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों, परन्तु व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, मनुष्य जाति के महान जनसमूह के लिए वे मूल्यहीन हैं। हम मनुष्य-जाति को इस स्थान तक पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है न बाइबिल और न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल तथा कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य-जाति को यह शिक्षा देनी

चाहिए कि सब धर्म उसी धर्म के, उसी एकमेवाद्वितीय के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य – हिन्दुत्व और इस्लाम – वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर – यही एक आशा है।

मैं अपने मानस-चक्षुओं से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देख रहा हूँ, जिसका इस विप्लव तथा संघर्ष से तेजस्वी तथा अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि तथा इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।

सर्वदा मेरी यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको मनुष्य-जाति की सहायता के लिए, विशेषतः हमारी अत्यन्त निर्धन मातृभूमि के लिए एक शक्तिशाली यंत्र बनावे।

भवदीय स्नेहबद्ध,

विवेकानन्द

– २ –

(स्वामी ब्रह्मानन्द को)

अल्मोड़ा,
१७ जुलाई, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से सारे समाचार ज्ञात हुए। सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) के बारे में तुमने जो लिखा है, उसमें मेरा इतना ही कहना है कि बँगला भाषा में पत्रिका को आयप्रद बनाना कठिन है; किन्तु यदि सब मिलकर घर घर जाकर ग्राहक बनावें, तो यह सम्भव हो सकता है। इस विषय में तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, करना। बेचारा सारदा एक बार विफल-मनोरथ हो चुका है। जो व्यक्ति इतना कार्यशील तथा निःस्वार्थ है, उसकी सहायता के लिए यदि हजार रुपये पर पानी भी फिर जाय, तो इसमें क्या कोई नुकसान की बात है ? अब लेन-देन के बारे में तुम स्वयं ही सोच-समझकर कार्य करते रहना। मुझे साफ दीख रहा है कि मेरी कार्यप्रणाली ठीक नहीं है। दूसरों को सहायता देने के सम्बन्ध में तुम्हारी नीति ही ठीक है अर्थात एकदम से अधिकाधिक देने से लोग कृतज्ञ न होकर उल्टा समझने लगते हैं कि अच्छा बेवकूफ़ फँसा है। दान के फलस्वरूप लेनेवालों में नैतिक पतन होता है, इसका कभी मुझे ख्याल भी नहीं था। दूसरी बात यह है कि जिस विशेष कार्य के लिए लोग दान देते

हैं, उससे थोड़ा-बहुत इधर-उधर करने का अधिकार हमें नहीं है।

काश्मीर के प्रधान न्यायाधीश श्री ऋषिवर मुकर्जी के पते पर भेजने से ही श्रीमती बुल को माला मिल जायगी। मित्र साहब तथा जज साहब इन लोगों की अच्छी तरह से देखभाल कर रहे हैं। काश्मीर में अभी तक हमें जमीन नहीं मिल सकी है – शीघ्र ही मिलने की आशा है। जाड़े की ऋतु में एक बार यहाँ रहने से तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा। यदि उत्तम मकान तथा पर्याप्त मात्रा में लकड़ी हो और साथ में गरम कपड़े रहें, तो बर्फ के देश में आनन्द ही है, दुख का नाम भी नहीं है। पेट की बीमारी के लिए ठण्डा देश रामबाण औषधि है। योगेन भाई (स्वामी योगानन्द) को भी साथ ले आना, क्योंकि यह पहाड़ी देश नहीं है, यहाँ की मिट्टी भी बंगाल जैसी ही है।

अल्मोड़ा से पत्रिका निकलने पर बहुत-कुछ कार्य अग्रसर हो सकता है; क्योंकि इससे बेचारे सेवियर को भी एक कार्य मिल जायगा और अल्मोड़ा के लोगों को भी कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा। सबको उनके मन के अनुसार कार्य देना ही विशेष कुशलता की बात है। कलकत्ते में जैसे भी हो सके 'निवेदिता बालिका विद्यालय' को सुस्थापित करना ही होगा। मास्टर महाशय को काश्मीर लाना अभी दूर की बात है, क्योंकि यहाँ पर कॉलेज स्थापित होने में अभी बहुत देर है। किन्तु उन्होंने लिखा है कि उन्हें आचार्य बनाकर कलकत्ते में एक कॉलेज स्थापित करने की दिशा में एक हजार रूपये प्रारम्भिक व्यय से कार्य शुरू कर देना सम्भव हो सकता है। मैंने सुना है कि इसमें तुम लोग भी राजी हो। इस बारे में जैसा उचित समझो, व्यवस्था करना।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है। रात में प्रायः उठना नहीं पड़ता है, यद्यपि सुबह-शाम भात, आलू, चीनी, जो कुछ भी मिलता है, खा लेता हूँ। दवा किसी काम की नहीं है – ब्रह्मज्ञानी के शरीर पर दवा का कोई असर नहीं होता! वह हज़म हो जायगी – डर की कोई बात नहीं है।

महिलाएँ सब कुशलपूर्वक हैं और वे तुम लोगों के प्रति स्नेह ज्ञापित कर रही हैं। शिवानन्द जी के दो पत्र आये हैं। उनके आस्ट्रेलियन शिष्य का भी एक पत्र मिला है। सुनता हूँ कि कलकत्ते में प्लेग बिल्कुल बन्द हो गया है। इति।

सस्नेह तुम्हारा,

विवेकानन्द

— ३ —

(स्वामी ब्रह्मानन्द को)

श्रीनगर,
१ अगस्त, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारी समझ में सदा एक भ्रम है और दूसरों की प्रबल बुद्धि के दोष अथवा गुण से वह दूर नहीं हो पाता। वह भ्रम यह है कि जब मैं हिसाब-किताब की बातें करता हूँ, तब तुम यह समझने लगते हो कि तुम लोगों पर मेरा विश्वास नहीं है। बात यह है कि इस समय तो कार्य आरम्भ कर दिया गया है; परन्तु मैं दिन-रात इसी चिन्ता में डूबा रहता हूँ कि बाद में हमारे चले जाने पर भी कार्य चलता रहे और दिनों-दिन बढ़ता रहे।

चाहे हजार गुना दार्शनिक ज्ञान क्यों न रहे, प्रत्यक्ष रूप से किये बिना कोई कार्य सीखा नहीं जाता। निर्वाचन तथा रुपये-पैसे के हिसाब की चर्चा करने को इसीलिए मैं बार बार कहता हूँ, ताकि और लोग भी कार्य करने को तैयार रहें। एक की मृत्यु हो जाने पर अन्य कोई व्यक्ति, एक ही नहीं, बल्कि दस व्यक्ति कार्य करने को प्रस्तुत रहें। दूसरी बात यह है कि कोई भी व्यक्ति तब तक अपनी पूरी शक्ति के साथ कार्य नहीं करता है, जब तक उसमें उसकी रुचि न पैदा की जाय; सभी को यह बतलाना उचित है कि कार्य तथा सम्पत्ति में प्रत्येक का ही हिस्सा है और कार्यप्रणाली में अपना मत प्रकट करने सभी को अधिकार है तथा समय रहते ही यह हो जाना चाहिए। एक के बाद एक, प्रत्येक व्यक्ति को उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य देना, परन्तु हमेशा एक कड़ी नज़र रखना, ताकि आवश्यकता पड़ने पर तुम नियंत्रण कर सको; तब कहीं कार्य के लिए व्यक्ति का निर्माण हो सकता है। ऐसा यंत्र खड़ा करो जो कि अपने-आप चलता रहे, चाहे कोई मरे या जीवित रहे। हमारे भारत का यह एक महान दोष है कि हम कोई स्थायी संस्था नहीं बना सकते हैं और इसका कारण यह है कि दूसरों के साथ हम कभी अपने उत्तरदायित्व का बँटवारा नहीं करना चाहते और हमारे बाद क्या होगा, यह भी नहीं सोचते। ...

मेरा स्वास्थ्य एक प्रकार से ठीक ही है। मकान का कार्य प्रारम्भ हो गया है — यह अच्छी बात है ! सबसे मेरा प्यार कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,

विवेकानन्द

चरित्र-निर्माण का उपाय

स्वामी आत्मानन्द

हमने बचपन में पढ़ा था – If wealth is lost, nothing is lost; if health is lost, something is lost; if character is lost, everything is lost. – अर्थात् यदि धन नष्ट होता है तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है तो कुछ अवश्य नष्ट होता है, परन्तु यदि चरित्र नष्ट होता है तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। आज हमारा चरित्र नष्ट हो गया है, इसीलिए अच्छी-अच्छी योजनाओं के बावजूद हमारा राष्ट्र खड़ा नहीं हो पा रहा है। स्वार्थ का घुन हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को खोखला किये दे रहा है। आज आदमी इतना मतलबपरस्त कैसे हो गया, समझ में नहीं आता। हमारा देश तो ऐसा है, जहाँ सदैव से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर बड़ा जोर दिया जाता रहा है। इसके बावजूद हमारे जीवन में नैतिक मूल्यों का जितना अभाव है, उतना उन पश्चिमी देशों में नहीं, जो धर्म तथा आध्यात्मिकता का दिखावा नहीं करते।

इस चरित्रहीनता का कारण खोजना कठिन नहीं है – वह है व्यक्ति का स्वार्थ, उसका लोभ, जो उसके समस्त मानवीय मूल्यों को खत्म कर देता है। चरित्र से तात्पर्य मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, और मानवीन मूल्यों का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोगिता का भाव। स्वार्थ या लोभ की वृत्ति हमारी इस सहानुभूति और सहयोगिता की भावना का ग्रास कर लेती है। हम इस जीवन की दौड़ में दूसरों को टँगड़ी मारकर या धक्का देकर आगे निकल जाना चाहते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि दौड़ में सही अर्थों में जीत तो उसी की होती है, जो दूसरों को दौड़ने में सहायता देता है। यह पाठ हमें प्राचीन काल से पढ़ाया जाता रहा है, परन्तु हम बार-बार भूल जाते हैं और ऐसा लगता है कि आजादी के इन पचास वर्षों में हम इसे एकबारगी भूल गये हैं।

आज हम चारित्रिक संकट के दौर से गुजर रहे हैं। इसमें मानवीय मूल्य नहीं रह जाते हैं, आस्थाएँ एकदम समाप्त हो जाती हैं, व्यक्ति केवल स्वार्थलोलुप रह जाता है और येन-केन-प्रकारेण स्वार्थ की साधना ही अपने जीवन का मूलमंत्र मानता है। हम अपेक्षा करते हैं कि दूसरे सब लोग तो सच्चाई की राह चलें, ईमानदार हों

और हम अकेले असत्य की राह चलते हों, बेईमान बनते हों, तो हमें छूट मिलनी चाहिए। हम कैकेयी का दर्शन अपनाना चाहते हैं, जिसने अपने बेटे के लिए तो राजसत्ता का भोग माँगा और दूसरे के बेटे के लिए त्यागरूप बनवास। हम मुँह से त्याग की प्रशंसा तो करते हैं, पर चाहते हैं कि दूसरे लोग ही उसे अपनाएँ। हम जबान से भोग की निन्दा तो करते हैं, पर अपने लिए भोग की छूट चाहते हैं। हमारे होठों से बड़ी-बड़ी बातें तो निकलती हैं, पर वे महज दूसरों को सुनाने के लिए होती हैं, हमारे अपने हृदय में उन बातों का कोई स्पन्दन नहीं होता। हम बड़े जोरदार शब्दों में नैतिकता और चरित्र की वकालत करते हैं, इसलिए नहीं कि हम इन गुणों के कायल हैं, बल्कि इसलिए कि लोग हमें सच्चा और ईमानदार मानें। हममें अपने को सच्चा और ईमानदार दिखाने की व्यग्रता होती है, सच्चा और ईमानदार बनने की नहीं। हममें प्रवृत्ति तो झूठ काम करने की है, पर चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा कहें। इससे चरित्र का निर्माण कैसे होगा ?

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश अपनी बहुविध समस्याओं का समाधान करते हुए विश्व के मंच पर यशस्वी बन कर उभरे, तो हमें चरित्र-निर्माण पर सबसे अधिक जोर देना होगा। इसके बिना सब थोथा है, विकास और उन्नति की सारी बात बकवास है तथा धर्म महज दिखावा और पाखण्ड है। चरित्र-निर्माण की पहली शर्त है अनुशासन। कठोर अनुशासन ही चरित्र-रत्न को खरादकर निखारता है। अनुशासन के दो पक्ष हैं – एक है भीतरी, जो हमारी इच्छा से पैदा होता है और यही सही अनुशासन है। दूसरा है बाहरी, जो समाज या राष्ट्र हम पर बाहर से लादता है। अनुशासन के इन दोनों पक्षों को साथ मिलाकर काम करना होगा, शास्त्र और शस्त्र दोनों को मिलकर जीवन में प्रभावी बनना होगा, तब कहीं चरित्र-निर्माण की आशा की जा सकती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने संयम और ज्ञान के बल पर अपना अनुशासन करते हैं और इस प्रकार अपना चरित्र-बल प्रकट करते हैं। पर बहुत-से ऐसे होते हैं, जिनको अनुशासन में रखने के लिए डण्डे की जरूरत होती है। चरित्र-निर्माण का पाठ इन दोनों को मिलाकर पूरा होता है।

फिर, यह चरित्र-निर्माण ऊपर से नीचे की ओर बहता है। ऊपर यदि सब ठीक है, तो नीचे के लोग भी अपने आप ठीक होने लगते हैं। समाज में आचरण-भ्रष्टता का फैलाव ऊपरी तबकों के लोगों से होता है। वहाँ सुधार की तत्क्षण और प्राथमिक आवश्यकता है। समाज के ऊपर के अंगों का हम इलाज करें, तो नीचे के अंग अपने आप रोगमुक्त हो जाएँगे। ❑

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(तिरसठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ/मिशन, के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर बँगला में धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। यह प्रवचनमाला संग्रहित होकर छह भागों में प्रकाशित हुई है। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

हाजरा, भवनाथ आदि

दोपहर के भोजन के बाद श्रीरामकृष्ण थोड़ा विश्राम कर रहे हैं। गहरी निद्रा नहीं, केवल तन्द्रा जैसी अवस्था है। गहरी निद्रा तो ठाकुर को प्रायः आती ही नहीं थी, ऐसे ही तन्द्राच्छन्न होकर वे लेटे रहते और इसी से उनका विश्राम हो जाता। तन्द्राच्छन्न अवस्था में ही वे मणि मल्लिक के साथ दो-एक बातें करते हैं। मणिलाल कह रहे हैं, "शिवनाथ नित्यगोपाल की बड़ी प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि उनकी परमहंस अवस्था है।" ठाकुर ने पूछा, "हाजरा को वे लोग क्या कहते हैं ?" हमें लग सकता है कि ठाकुर ने अप्रासंगिक रूप से यह प्रश्न क्यों किया ! इसलिए कि बाहरी अवस्था को देखकर किसी की आध्यात्मिक उन्नति को मापना बहुत कठिन है। बहिरंग दृष्टि से जो बहुत उन्नत लगते हैं, शायद उनकी उतनी उन्नति हुई नहीं रहती। या फिर जिन्हें हम उन्नत नहीं समझते, उनमें भी उन्नति की प्रचुर सम्भावना हो सकती है। इसीलिए ठाकुर ने नित्यगोपाल के सम्बन्ध में बात उठने पर हाजरा के विषय में पूछा। हाजरा दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास ही रहते थे। खूब जप-ध्यान करते, बाह्याडम्बर बहुत था, अनेक भक्त हाजरा की ओर आकृष्ट हो गये थे। ठाकुर कई बार विनोद करते हुए कहते, "यहाँ यदि बड़ा दरोगा है, तो वहाँ छोटा दरोगा है।" अर्थात हाजरा भी कम नहीं है।

ठाकुर अब उठकर बैठ गये। भवनाथ के बारे में कह रहे हैं, "अहा, उसका भाव कैसा सुन्दर है ! भजन गाते गाते आँखें आँसुओं से भर जाती हैं। हरीश को देखते ही उसे भाव हो गया। कहता है – ये लोग मजे में हैं।" भवनाथ गृही हैं,

किन्तु भगवान का नाम लेते ही आँखों में आँसू आ जाते हैं, हरीश ठाकुर के पास रहते हैं, इसलिए हरीश को देखते ही भाव हो गया। आध्यात्मिक जीवन के लिए उनमें जो प्यास है, यह अच्छी तरह से समझ में आता है। ठाकुर इसी व्याकुलता की प्रशंसा करते हैं। इनकी इस भक्ति का कारण क्या है, वे मास्टर महाशय से पूछते हैं और फिर स्वयं ही उत्तर देते हैं, "बात यह है कि बाहर से देखने में सभी मनुष्य एक ही तरह के होते हैं। परन्तु किसी किसी में खोये का पूर भरा है। जैसे गुझिये के भीतर उड़द के दाल का पूर भी हो सकता है और खोये का भी, पर बाहर से देखने में दोनों एक जैसे दिखते हैं। ईश्वर को जानने की इच्छा, उनके प्रति प्रेमाभक्ति, इसी का नाम खोये का पूर है।" गुझिये के भीतर क्या है, क्या नहीं, बाहर से देखने पर समझ में नहीं आता; इसी तरह मनुष्य भी बाहर से देखने में सब एक जैसे हैं, समझ में नहीं आता कि भीतर क्या है। मानो पूर्वोक्त प्रसंग को ही आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि जब किसी की प्रशंसा की जाती है, तो क्या उसके अन्तर को देखकर की जाती है ? बाह्य आवरण, बाहरी व्यवहार को देखकर एक निष्कर्ष निकाला गया; किन्तु वास्तव में कोई व्यक्ति कैसा है, यह तो अन्तर्द्रष्टा लोग ही समझते है। उन्हें छोड़ और कोई नहीं समझ सकता। यह खोये का पूर अर्थात प्रेमभक्ति जिसके भीतर है, अनुकूल अवस्था मिलने पर वही प्रेम का बीज अंकुरित होकर बाहर प्रकट होता है। जो अन्तर्द्रष्टा हैं, वे उस भाव के प्रकट होने के पूर्व भी देख पाते हैं।

गुरुकृपा और शिष्य की साधना

श्रीरामकृष्ण भक्तों को अभय दे रहे हैं, "कोई कोई सोचता है कि मुझे ज्ञान-भक्ति नहीं होगी, मैं शायद बद्ध जीव हूँ। श्रीगुरु की कृपा होने पर कोई भय नहीं।" यह शंका बहुतों के मन में उठती है; विशेषकर साधना के प्रारम्भ में, जब मन के साथ परिचय आरम्भ होता है। तब अपने विषयासक्त मन को देखकर वे स्वयं को बद्ध जीव समझते हैं। ठाकुर भक्तों को आश्वस्त करते हैं, "गुरुकृपा होने पर कोई भय नहीं है" – गुरु की कृपा से जीव उस बद्ध अवस्था से मुक्ति के पथ पर जाएगा। जीव के भीतर जो मुक्ति की सम्भावना है, उसी को गुरु उसके सामने प्रकट करके उसे प्रेरणा देंगे कि किस प्रकार उस सम्भावना को रूपायित किया जाय। गुरुकृपा समझाने के लिए ठाकुर यहाँ पर एक कहानी भी बताते हैं –

बाघिन का एक बच्चा बकरियों के झुण्ड में पल रहा था। बकरियों के साथ रहने के कारण उसका व्यवहार भी बकरियों जैसा हो गया। एक बाघ ने जब उसे बकरियों

के झुण्ड में देखा, तो अवाक रह गया। बाघ उसे पकड़कर तालाब के किनारे ले गया और पानी में उसे उसका प्रतिबिम्ब दिखाया तथा जबरन मांस भी खिलाया। बाघिन का बच्चा समझ गया कि वह भी बाघ है और बकरियों की भाँति असहाय नहीं है। यह नया बाघ उस बकरियों के झुण्ड में पलकर बड़े हुए बाघ का गुरु हुआ। इसलिए गुरुकृपा होने पर कोई भय नहीं रहता। गुरुकृपा से बद्ध जीव अपने स्वरूप को जान सकता है और तब वह बन्धन को काटकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी का नाम है — स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होना।

हम अपना वास्तविक स्वरूप भूल गये हैं। गुरु आकर सिखाते हैं - तुम इस तरह के असहाय तथा अष्टपाशों में बद्ध मनुष्य नहीं हो; तुम्हारे भीतर परमपुरुष विराजमान हैं, उनका परिचय तुम्हें पाना ही होगा। तुम्हीं वह सर्व-बन्धन-मुक्त परमात्मा हो। स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों में इस बाघ तथा बकरी की कहानी बताकर अपने कई व्याख्यानों में आत्मा की महिमा का वर्णन किया है।

गुरु रास्ता दिखा देते हैं, किन्तु साधक को उस पथ पर चलना होगा। ऐसा सोचना उचित नहीं कि गुरु उसे पकड़कर उस रास्ते पर चलायेंगे। इसीलिए हम देखते हैं कि साधुसंग से किसी को लाभ होता है और किसी को नहीं। साधुसंग होना तो ठीक है, किन्तु साधक का अपना उद्यम न रहने पर साधुसंग का कोई फल नहीं होता। बँगला में एक प्रचलित कहावत है, "गुरु, कृष्ण, वैष्णव — तीनों की दया हुई, एक की दया बिन जीव की दुर्गति हुई।" गुरु अर्थात जो रास्ता बता दे, कृष्ण हैं हमारे गन्तव्य-स्वरूप भगवान स्वयं और वैष्णव का अर्थ है साधक। इन तीनों की दया हुई अर्थात साधक ने तय किया कि वह साधना करके भगवान को पायेगा, किन्तु एक अर्थात मन की दया न होने पर, उसका भी प्रयास न होने पर वह ईश्वर को नहीं पा सकेगा।

कभी कभी हम सुनते हैं, "गुरु की कृपा होने से काम होगा, अन्यथा नहीं होगा।" खुद कुछ करना नहीं चाहते, इसलिए लोग कहते हैं कि भगवान करायेंगे तो होगा। यह निर्भरता नहीं, आलस्य है। इस तरह से हम अपने मन के साथ कपटता किया करते हैं। गुरु से तत्त्व के सम्बन्ध में निर्देश पाकर भी मन यदि उस दिशा में जाने का प्रयत्न न करे, तो फिर गुरु की क्या आवश्यकता है ? यदि तुम स्वयं प्रयत्न न करो, तो कौन तुम्हें चेतन करेगा ? सोये हुए व्यक्ति को जगाया जा सकता है, परन्तु जो जागते हुए भी सोया है उसे जगाया नहीं जा सकता। जो स्वयं

प्रयत्न नहीं करता, उस पर 'मन की दया' नहीं होती। जो सही अर्थों में गुरु हैं, वे शिष्य को स्वावलम्बी बनाते हैं। उसे बता देते हैं कि तुम्हें स्वयं के ऊपर ही निर्भर रहना होगा। गीता में भगवान कहते हैं –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (६/५)

– विवेकयुक्त मन से मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करे, आत्मा को अधोगामी न करे। शुद्ध मन जीव का मित्र है, मुक्ति में सहायक है और विषयासक्त मन जीव का शत्रु है। अतः शास्त्र कभी ऐसा नहीं कहते कि हमें दूसरों के ऊपर निर्भर रहना होगा, गुरु के ऊपर भी नहीं। गुरु रास्ता दिखा देंगे, बता देंगे कि मार्ग की कठिनाइयों को किस तरह दूर करना चाहिए, पर मार्ग पर चलने का काम शिष्य को स्वयं करना होगा। मैं कुछ नहीं करता, वे ही करा रहे हैं – यह बात तभी कही जाती है, जब कर्तृत्वबोध का लोप हो जाता है, अहं बिल्कुल मिट जाता है। जब तक भीतर 'मैं' बिलबिला रहा है, तब तक 'वे ही कर रहे हैं' – कहना कपटता है। अतः इस कपटता का परित्याग करके गुरु ने जो मार्ग बताया है, उसी पर ठीक ठीक चलना होगा। "गुरुकृपा होने पर कोई भय नहीं है" – ठाकुर की इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना होगा। स्वयं के साथ जरा भी छल न हो। वास्तविक स्वरूप गुरु बता देंगे, किन्तु हम क्या उसे जानना चाहते हैं ? गुरुकृपा को ग्रहण करने की सामर्थ्य क्या हममें है ? थोड़ी-सी साधना करते ही वे बता देते हैं कि रास्ता यह है। तब शिष्य स्वयं ही समझ सकता है कि ईश्वर सत्य और बाकी सब अनित्य है। यह थोड़ी-सी साधना शिष्य को करनी होगी, नहीं तो गुरुकृपा को वह कैसे समझेगा?

अपने जीवन का एक अनुभव बताता हूँ। अपने गुरुदेव से जब भी मैं कोई प्रश्न करता, तो वे डाँटते, "ये क्या खाते-सोते पूछने की बातें हैं ?" फिर मीठे शब्दों में कहते, "अरे भाई, हम लोग क्या चिरकाल तक रहेंगे ? हमेशा यदि हमारे ऊपर ही निर्भर रहोगे, तो फिर कभी अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकोगे। जो प्रश्न उठेगा, उसका उत्तर तुम्हें अपने भीतर ही पाना होगा।" ये बातें चिन्तनीय हैं। गुरु शिष्य को आत्मनिर्भर बनने में सहायता करते हैं।

थोड़ी-सी साधना करते ही मनुष्य समझ जाता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। ठाकुर मछलीचोर का दृष्टान्त देते हैं, जिसे कपट-साधना के द्वारा वैराग्य हो गया था। मछली चुराते हुए पकड़े जाने के भय से वह साधु का वेश बनाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। साधु समझकर बहुत-से लोग उसे भक्तिपूर्वक प्रणाम कर गये।

इससे उसके मन में वैराग्य का उदय हुआ। उसने सोचा कि जब कपट साधना से ही यह हाल है, तो सचमुच ही भगवान को पुकारने से मैं उन्हें पा जाऊँगा। तब बोध होगा कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं, संसार अनित्य है -- दो दिन के लिए है।

ठाकुर जिनके सामने ये बातें कह रहे हैं, वे सभी संसार में आबद्ध हैं। संसार की अनित्यता की बात सुनकर एक भक्त के मन में प्रश्न उठा कि जो लोग संसार में हैं, उनका क्या होगा ? क्या उन्हें संसार छोड़ना होगा ? मन में यही विचार चल रहा है। अहैतुक कृपासिन्धु ठाकुर उनके मन के भय को समझ रहे हैं। कहते हैं, ''यदि किसी मुंशी को जेल हो जाय, तो जेल की सजा तो वह भोगता है, परन्तु जेल से जब रिहा होगा तो क्या वह रास्ते में नाचता फिरेगा ? वह फिर किसी दफ्तर में नौकरी खोज लेगा और वही पुराना काम करता रहेगा। इसी प्रकार गुरुकृपा से ज्ञानलाभ होने पर मनुष्य संसार में भी जीवनमुक्त होकर रह सकता है।

ज्ञानी और संसार

यदि कोई भगवत्कृपा से मुक्त हो जाय तो उसे संसार असार तथा अनित्य प्रतीत होता है, ईश्वर ही सत्य लगते हैं। इस ज्ञान --े लेकर वह चाहे तो संसार के कर्म करे, इसमें कोई दोष नहीं। ऐसा नहीं है कि उसे संसार का त्याग करना ही पड़े। केवल संसार की आसक्ति को त्यागना होगा। आसक्ति का त्याग करके संसार में रहने में कोई दोष नहीं। गुरुकृपा से इस तरह जीवन्मुक्त होकर संसार में रहा जाता है। जीवनमुक्ति के प्रसंग में राजा जनक अथवा धर्मव्याध की कथा में पतिसेवा-परायण महिला का दृष्टान्त दिया जाता है। वे इसी प्रकार संसार में थे। ज्ञान प्राप्त करके आसक्तिशून्य होकर उन्होंने गृहस्थी की थी।

असल बात है दृष्टि। जिस दृष्टि से हम देखेंगे, उसी के अनुसार बद्ध अथवा मुक्त होंगे। संसार को यदि हम छाया के समान समझें, तो वह आसक्ति का कारण नहीं बनेगा। संसार जैसा है वैसा ही रहेगा, केवल दृष्टिकोण उलट देना होगा। बद्ध जीव जैसे खाता-सोता है, ज्ञानी भी उसी तरह व्यवहार करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक जगत को सत्य देखता है और दूसरा मिथ्या। बद्ध जीव आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानी अनासक्त होकर करते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप और भी अच्छी तरह से कर्म कर सकते हैं। याद रखना होगा कि ज्ञानी का आचरण कभी दूषित नहीं होता; क्योंकि अनासक्ति के कारण उसके व्यवहार में दोष नहीं रहता। आसक्ति से दोष आता है। ज्ञानी का पैर कभी बेताल नहीं पड़ता।

ठाकुर गृहस्थों को अभय देते हैं। ऐसी बात नहीं है कि संसार छोड़ना ही होगा। संसार में अनासक्त रहना होगा, उसके प्रति सत्यबोध को छोड़ना होगा। संसार में जो सत्यता का बोध हो रहा है, उसके भीतर भगवान हैं, इसीलिए सत्यता का बोध हो रहा है। यह बात हमें विशेष रूप से याद रखनी होगी। इस संसार में हम जो भी देख रहे हैं, वह सब वे ही हैं - इसी भाव से कर्म करना चाहिए। वे जगत में सर्वत्र विराजमान हैं, यह यदि जान लिया तो फिर भय की कोई बात नहीं। ईश्वरतत्त्व के द्वारा समस्त जगत को ढँक लेना होगा। वे ही सार हैं – ऐसा बोध होने पर संसार में आसक्ति नहीं होगी। ❑

प्रार्थना

**ठाकुर, तुम स्वयं माँ-काली के अवतार हो।
हमें सिखाने के लिए उनका पूजन करते रहे,
और मैं तुम्हारी महिमा को जानने के लिए
तुम्हारी अर्चना करता हूँ ;
तुम माँ का दर्शन पाने के लिए पागल हुए थे
और मैं तुम्हें पाने को मतवाला होना चाहता हूँ।
माँ का भजन करने में तुम्हें अनुपम आनन्द होता था
और मैं तुम्हारे भजन में ही धन्यता का अनुभव करता हूँ।
तुम भवतारिणी की प्रतिमा में अनन्त ब्रह्माण्ड देखते थे,
और मैं तुम्हारी मूर्ति में ही
अखण्ड सच्चिदानन्द सागर को लहराते देखता हूँ।
तुम परब्रह्म महाशक्ति हो,
और मैं हूँ एक अज्ञानी अक्षम जीव,
तुम्हारी अविद्या माया भी मुझे लुभाती है,
परन्तु मैं दो नावों में पाँव रखकर
मझधार में डूबने को तैयार नहीं हूँ।
तुम्हारे ही चरणों में सर्वस्व न्यौछावर कर
मैं केवल तुम्हें ही पाना चाहता हूँ।**

– 'चित्त' (गोंदिया)

मानस-रोग (२९/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके उन्तीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

गोस्वामीजी ने मानस-रोगों का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह हमारे जीवन के साथ कितनी गहराई से जुड़ा हुआ है, अब हम इसी को देखने का प्रयास करेंगे। शारीरिक तथा मानसिक रोगों की तुलना करते हुए काकभुसुण्डि जी कहते हैं –

ममता दादु कंडु इरषाई। ७/१२१/३३

– जैसे शरीर में कण्डु अर्थात खुजली हो जाती है, उसी प्रकार मन का कण्डुरोग ईर्ष्या है। शरीर के रोगों में खुजली एक बड़ा ही संक्रामक रोग है। शरीर में होनेवाले सभी रोग संक्रामक नहीं होते, परन्तु मानसिक रोगों के साथ सबसे जटिल समस्या यह है कि मन के सभी रोग बड़े ही संक्रामक होते हैं और दूसरी बड़ी समस्या यह है कि सामान्यतः शरीर में अनेक रोग एक साथ नहीं होते, परन्तु मन में असंख्य रोग एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में एक समय में एक या दो रोग ही होते हैं, इसलिए उनकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल है, परन्तु मन के रोग इतने विलक्षण ढंग से जुड़े होते हैं कि एक रोग होते ही समस्त रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और तब उनसे पार पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

इस सन्दर्भ में भी यदि हम विचार करके देखें तो ईर्ष्या स्वयं अपने आप में उतनी बड़ी समस्या नहीं है, जितनी कि उससे उत्पन्न होनेवाले अन्य रोग तथा विकृतियाँ हैं। यदि ये विकृतियाँ मनुष्य के मन में न आयें, तो ईर्ष्या केवल ईर्ष्यालु व्यक्ति को ही दुःख दे सकती है, परन्तु साधारणतः ईर्ष्या की वृत्ति उत्पन्न होकर अकेली नहीं रहती। ईर्ष्यावृत्ति की पराकाष्ठा में व्यक्ति के मन में द्वेष तथा मात्सर्य की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इन वृत्तियों के उत्पन्न होने पर परिणाम यह होता है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरों के लिए दुःख की सृष्टि करने लगता है। ईर्ष्या के कारण व्यक्ति स्वयं तो दुःख पाता ही है, द्वेष के कारण दूसरों को भी दुःख पहुँचाता है।

मानस में विभिन्न पात्रों के माध्यम से इस ईर्ष्यावृत्ति का बड़ा ही व्यापक निरूपण किया गया है। विभिन्न प्रसंगों में इस ईर्ष्या के अलग अलग रूप दिखाई देते हैं। कहीं तो यह द्वेष तथा मात्सर्य की दिशा में बढ़कर बड़ा घातक परिणाम उत्पन्न करती है और कहीं सद्वृत्तियों की ओर मुड़कर कल्याण की सृष्टि करती है। इन कथाओं के माध्यम से गोस्वामीजी मानो यह संकेत देते हैं कि इन वृत्तियों को यदि सही दिशा में मोड़ा जा सके, तो इनके द्वारा भी अन्ततोगत्वा मनुष्य अपने जीवन को सही दिशा में ले जा सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम ही हो पाता है।

इस सन्दर्भ में जिन पात्रों के माध्यम से ईर्ष्या का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वे देवलोक से सम्बद्ध हैं। इसमें एक ओर तो देवर्षि नारद हैं और दूसरी ओर देवराज इन्द्र। पहले इन्द्र के मन में और उसके बाद नारदजी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। इसका तात्पर्य यह है कि ईर्ष्यावृत्ति केवल भोगपरायण व्यक्ति के जीवन में होती हो, ऐसी बात नहीं, बड़े-बड़े त्यागियों के जीवन में भी यह दिखाई देती है। इस ईर्ष्यावृत्ति से न भोगी मुक्त है और न त्यागी ही। परन्तु इन दोनों में एक अन्तर है। भोगी के जीवन में ईर्ष्या का कारण है – प्रतिस्पर्धी के पास भोगसामग्री का अधिक होना। उसे निरन्तर इसी बात की चिन्ता बनी रहती है कि कहीं मेरे पास की भोगसामग्री कम न हो जाय। कम होने पर उसे दूसरे के पास भोगसामग्री अधिक दिखाई देने लगती है और वह ईर्ष्या से जलने लगता है। ठीक यही स्थिति त्यागी के जीवन में भी है। यद्यपि भोग के सन्दर्भ से वह मुक्त है, परन्तु यश तथा कीर्ति को लेकर वह भी इसी ईर्ष्यावृत्ति से आक्रान्त है। यश और कीर्ति की सुरक्षा की चिन्ता उसे भी रहती है। जब वह अपनी कीर्ति को दूसरों की कीर्ति के सामने धूमिल होते देखता है, उसके मन में भी उसी प्रकार ईर्ष्यावृत्ति का उदय हो जाता है, जैसे एक भोगी के मन में होता है।

ईर्ष्यावृत्ति का एक रूप तो वह है जिसे हमने नारद तथा इन्द्र के सन्दर्भ में देखा। इस प्रसंग में हमें ईर्ष्या का कोई बहुत बुरा परिणाम दिखाई नहीं देता, परन्तु रामायण में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ इसका परिणाम बड़ा भयानक हुआ है। ईर्ष्या का एक रूप तो दिखाई देता है महर्षि वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के प्रसंग में और दूसरा प्रतापभानु के प्रसंग में, परन्तु दोनों के परिणाम में भिन्नता है। विश्वामित्र एक राजा और वशिष्ठ एक त्यागी तपस्वी थे। वशिष्ठ का आश्रम वन में था। एक दिन इन दोनों महापुरुषों का मिलन होता है। एक ओर देश के शासक विश्वामित्र और दूसरी ओर त्यागी-तपस्वी वशिष्ठ। दोनों ने भारतीय परम्परा का पालन किया। विश्वामित्र

स्वयं वशिष्ठ के आश्रम में गये। इसका तात्पर्य यह है कि संग्रही त्यागी के समक्ष जाकर उनके प्रति अपना सादर अभिनन्दन व्यक्त करे। इस कर्तव्य का अभिप्राय यह है कि त्यागी के जीवन में निरपेक्षता है और संग्रही के जीवन में अपेक्षा। जिस व्यक्ति के जीवन में अपेक्षा है, उसे निरपेक्ष व्यक्ति के समक्ष जाकर प्रणाम करना चाहिए। दूसरी ओर महर्षि वशिष्ठ आश्रम में देश के राजा आया हुआ देखकर सोचते हैं कि एक तपस्वी के मन में भले ही कोई अपेक्षा न हो, परन्तु जिन राजा के द्वारा समाज को संरक्षण प्राप्त है, उनके इस कार्य के लिए उनका अभिनन्दन करना चाहिए। दोनों ओर सद्वृत्ति तथा सदाचार दिखाई देता है। विश्वामित्र के मन में राजा होने का अभिमान नहीं है। वे स्वयं ही त्यागी तपस्वी के आश्रम में जाकर उन्हें प्रणाम करते हैं और महर्षि वशिष्ठ में भी त्याग का अभिमान नहीं है। वे राजा को एक विषयी और भोगी समझकर उनकी उपेक्षा नहीं करते, अपितु उनके मन में राजा का अभिनन्दन तथा सम्मान करने की ही वृत्ति है।

अब किसी का अभिनन्दन करने की, उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने की एक परम्परा तो यह है कि अभिनन्दन हम अपनी रुचि के अनुसार करें और दूसरी कि वह अभिनन्दित किए जानेवाले व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप हो। दोनों तरह की परम्पराएँ हैं। महर्षि विश्वामित्र यदि आश्रम-जीवन के अनुरूप कन्द-मूल तथा फलों-फूलों से राजा का स्वागत किया होता तो यह भी स्वाभाविक होता, परन्तु वशिष्ठ के मन में आया कि उत्कृष्ट तो यह होगा कि हम जिसका सम्मान करते हैं, उसकी रुचि पर भी हमारी दृष्टि हो और तदनुसार ही हम उसका सम्मान करें।

सन्तश्री उड़िया बाबाजी महाराज के सान्निध्य में कई वर्ष रहने का मुझे सौभाग्य मुझे मिला था। उनका एक संस्मरण मुझे नहीं भूलता। एक कोई विशिष्ट व्यक्ति उनके पास आये थे। अन्य कई गुणों के साथ ही वे एक उद्योगपति भी थे। बाबा ने उनके लिए एक विशेष आसन की व्यवस्था की और उनका खूब सम्मान किया गया। कुछ आश्रमवासियों को बाबा का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। बाद में उन लोगों ने बाबा से कहा भी, "महाराज, किसी संसारी व्यक्ति के द्वारा एक उद्योगपति को सम्मानित किया जाय, यह तो समझ में आता है, परन्तु आपको यह सब करने की क्या आवश्यकता थी ?" बाबा ने मुस्कुराते हुए कहा, "भाई, बात यह है कि सन्तों के पास आश्रम में लोग तरह तरह की कामना लेकर आते हैं और सन्त उनकी कामना पूरी करते हैं। जो बेचारा सम्मान पाने की इच्छा लेकर आया है, उसे क्या सम्मान भी न दिया जाय! वह तो इसी आशा से आया था कि हमें अन्यों

की अपेक्षा अधिक सम्मान मिले। इसकी आवश्यकता मुझे भले ही न हो, परन्तु उसे तो थी ही। इसलिए उसकी आवश्यकता की पूर्ति की गयी।''

वशिष्ठ को भी विश्वामित्र से कोई अपेक्षा नहीं थी, परन्तु वशिष्ठ को ऐसा लगा कि अगर मैं कन्द-मूल-फल से स्वागत करूँगा, तो एक राजा और उसके साथ आये हुए सैनिकों तथा अन्य लोगों को शायद रसानुभूति न हो, अतः एक राजा का सत्कार राजसी पद्धति से ही होना चाहिए। राजाओं को प्रिय लगनेवाली वस्तुओं से ही राजा का स्वागत किया जाय।

ऐसा ही प्रसंग 'मानस' में महर्षि भारद्वाज तथा श्रीभरत के सन्दर्भ में भी आता है। महर्षि भारद्वाज ने भगवान राम का भी स्वागत किया और श्रीभरत का भी। लेकिन पद्धति अलग अलग थी। भगवान राम का सम्मान उन्होंने मुनि-पद्धति से करते हुए उन्हें कन्द-मूल-फल अर्पित किये और भरतजी के आने पर उनका स्वागत भिन्न पद्धति से किया। उन्होंने भरतजी को आश्रम में रात्रिवास करने का निमंत्रण दिया, परन्तु साथ ही उन्हें यह चिन्ता भी हुई कि जैसा देवता हो, वैसी ही उसकी पूजा भी होना चाहिए –

मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता।
तसि पूजा चाहिय जस देवता॥ २/२१३/७

भरद्वाज मुनि ने ईश्वर तथा अन्य देवताओं में एक भेद किया। यह भेद बड़े महत्व का है। वह भेद क्या है? ईश्वर के सामने तो उन्होंने फल-फूल अर्पित किये - यह तो बड़ी अच्छी बात है, क्योंकि ईश्वर के साथ कोई रुचिवाली समस्या नहीं है। ईश्वर की अपनी कोई इच्छा या रुचि तो है नहीं; पूजा करनेवाला जो भी देता है, उसे वे स्वीकार कर लेते हैं। ईश्वर की पूजा में ईश्वर तथा उनके पूजक की इच्छा में कोई टकराहट नहीं है। इसलिए भरद्वाज ने सोचा कि श्रीराम को तो हम जो भी देंगे, वे उसी से तृप्त हो जायेंगे, क्योंकि उन्हें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। उन्होंने भगवान राम की पूजा ईश्वर के रूप में की।

दूसरी ओर श्रीभरत की महिमा से परिचित होते हुए भी महर्षि भरद्वाज के अन्तःकरण में यह बात तो आई ही कि कुछ भी हो, श्रीभरत देश के राजा के रूप में आये हुए हैं और उनके साथ इतनी बड़ी सेना भी है; भरतजी के मन में भले ही भोग की वृत्ति न हो, परन्तु यह तो आवश्यक नहीं कि उनके साथ आनेवाले सारे लोग भी उन्हीं के समान त्यागी और विरक्त हों! इसलिए उनके मन में यह चिन्ता हो जाती है कि इतने अतिथि-देवताओं की पूजा मैं किस वस्तु से करूँ?

हमारे यहाँ यह परम्परा है और शास्त्र भी बताते हैं कि किस देवता को कौन-सा फूल और कौन-सी पत्ती पसन्द है। पूजा में लोग इसका बड़ा ध्यान रखते हैं। हमारे एक प्रसिद्ध सन्त कहा करते थे – गोस्वामीजी के सामने एक बड़ी समस्या आ गयी। भगवान राम जब गुरु विश्वामित्र की आज्ञा से पूजा के लिए फूल लेने गये, तो गोस्वामीजी ने बड़ी चतुराई की। उन्होंने यह तो बता दिया कि श्रीराम वाटिका में पूजा के लिए फूल तोड़ रहे हैं, परन्तु यह नहीं बताया कि कौन-से फूल तोड़ रहे थे और उससे भी अधिक सावधानी दिखाते हुए कहा –

लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥ १/२२८/१

वे बड़े प्रेम से फूल और पत्तियाँ लेने लगे। कौन-से फूल और कौन-सी पत्तियाँ – यह नहीं बताया। यहाँ पर हमें गोस्वामीजी की साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। फूल का नाम लिखते ही स्पष्ट हो जाता कि किस देवता की पूजा हो रही है और दल का नाम लेते ही एक साम्प्रदायिक आग्रह व्यक्त हो जाता, परन्तु यहाँ उनकी सजगता तथा चतुराई से एक सुन्दर समन्वय की भूमिका बन गई है। वैष्णव से पूछा गया कि भगवान राम ने कौन-सा दल लिया, तो वे बोले – तुलसीदल। शिवभक्त ने कहा – बिल्वदल। गणेशजी के भक्त ने कहा – दुर्वादल। इस तरह से दल कहने से उसका अर्थ इतना व्यापक हो गया कि आप उसे चाहे जिसकी प्रियता के साथ जोड़ दें, कोई आपत्ति नहीं है। इससे किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी को ऐसा नहीं प्रतीत होगा कि गोस्वामीजी रामकथा को किसी सम्प्रदाय-विशेष की निधि बनाने के लिए व्यग्र हैं। जिसके मन में ईश्वर को जिस सम्प्रदाय में देखने की इच्छा हो, वह उसी में देखे।

देवताओं के विषय में ऐसी मान्यता है कि उनकी अपनी अलग अलग रुचि है और उनकी रुचि के अनुसार ही उन्हें पत्र-पुष्प-नैवेद्य आदि अर्पित किये जाते हैं। भरतजी के सन्दर्भ में – तसि पूजा चहिय जस देवता – यह बात भरद्वाज मुनि के मन में इसीलिए आयी और उन्हें चिन्ता हुई कि सबकी रुचियों के अनुकूल सामग्री कैसे उपलब्ध होगी ! उनकी चिन्ता देखकर –

सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।
आयसु होइ सो करहिं गोसाईं ॥ २/२१३/८

– ऋद्धि-सिद्धियाँ आकर उनके सामने खड़ी हो गयीं। महर्षि भरद्वाज ने उन्हें बुलाया नहीं था, वे स्वयं आ गयीं और कहने लगीं – महाराज, हमारे लिए क्या आज्ञा है ? भरद्वाज मुनि ने उनसे बड़ी ही सुन्दर बात कही। बोले – तुम्हारे लिए

आज एक महान सुअवसर आया है। गोस्वामीजी ने यहाँ दो बातें कहीं हैं और वे दोनों ही बड़े महत्व की हैं। एक तो उन्होंने ऋद्धि-सिद्धियों को बुलाया नहीं, वे बिना बुलाए स्वयं ही चली आयी हैं और दूसरी ऋद्धि-सिद्धियों से उन्होंने जो बात कही, वह तो और भी सुन्दर है। जो सिद्धियों को बुलाने का प्रयास कर रहे हैं, वे तो ईश्वर से दूर हैं ही, पर जो सिद्धियाँ पाकर भी उनका केवल लौकिक प्रयोजन से उपयोग करते हैं, वह सिद्धियों का दुरुपयोग है। भरद्वाज मुनि के पास ऋद्धि-सिद्धियाँ बिना बुलाये आयीं और उनका उपयोग कितना सुन्दर हुआ ! भरद्वाज ने ऋद्धि-सिद्धियों से कहा –

राम विरह व्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम कहा मुदित मुनिराज ॥ २/२१३

– ये लोग भगवान राम के दर्शन के लिए जा रहे हैं। साधना के मार्ग पर चलते हुए इन्हें जो श्रम हुआ है, उसे तुम लोग दूर कर दो, इन्हें विश्राम प्रदान करो।

वैसे तो बहुधा यही माना जाता है कि ऋद्धि-सिद्धियाँ ईश्वर के मार्ग में बाधक हैं, परन्तु भरद्वाज ने कहा – नहीं, नहीं, यह तो आज तुम्हारे लिए परम सौभाग्य का अवसर है; आज तुम्हें बाधक नहीं, बल्कि साधक की भूमिका निभानी है। इन्हें विश्राम देकर तुम लोगों को यह सिद्ध करना है कि तुम ईश्वर की मार्ग बाधक नहीं, अपितु साधक हो। विश्राम दो प्रकार से दिया जाता है। एक तो यह कि थके हुए यात्री को यदि रात में अच्छा विश्राम मिल जाय, तो दूसरे दिन आगे बढ़ने के लिए उसे शक्ति मिल जाती है और इसकी दूसरी पद्धति यह है कि विश्राम पाकर व्यक्ति यह सोचे कि बस अब यहीं रह जायँ, आगे जाने की क्या आवश्यकता है ? जहाँ विश्राम आगे वढ़ने की शक्ति दे, प्रेरणा प्रदान करे, वहाँ तो वह साधक है और जहाँ रोकने के लिए हो, वहाँ तो वह बड़ा घातक है। महर्षि भरद्वाज ने कहा – इस समय तो तुम्हें साधक के रूप में इन्हें विश्राम देकर इनकी यात्रा में गति लाना है। इस तरह से उन्होंने बड़े ही निरपेक्ष तथा सात्त्विक पद्धति से सिद्धियों का प्रयोग किया और ग्रहण करनेवालों ने भी उसे सद्भावपूर्वक स्वीकार किया। किसी के भी मन में महर्षि भरद्वाज के प्रति ईर्ष्या का उदय नहीं हुआ।

यहाँ पर दोनों प्रकार की वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। एक ओर तो अयोध्या के पुरवासी नागरिक हैं, जिन्होंने देखा कि यहाँ ऋषि के आश्रम में तो अयोध्या से भी अधिक सुख-सुविधा की सामग्री है। परन्तु यह सब देखकर उन्हें क्या लगा ? देखकर बड़े प्रसन्न हुए और आश्चर्य भी हुआ –

देखि हरष बिसमय सब लोगा ॥ २/११५/८

आश्चर्य हुआ कि महर्षि भरद्वाज रहते तो आश्रम में हैं, तो इतना बड़ा वैभव आया कहाँ से ? और हर्ष क्यों हुआ ? सोचने लगे कि त्याग का मार्ग भी कोई घाटे का मार्ग नहीं है। अयोध्या का सुख छोड़कर हम लोग आये, तो मार्ग में उससे भी बढ़कर सुख मिल गया। परन्तु भरतजी ने इसे किस दृष्टि से देखा –

मुनि प्रभाउ जब भरतु बिलोका।
सब लघु लगे लोकपति लोका ॥ २/२१५/१

उन्हें भी लगा कि महर्षि भरद्वाज के पास सिद्धियों की इतनी क्षमता है, तथापि वे अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए इनका उपयोग नहीं करते। जो प्रबन्ध उन्होंने हम लोगों के लिए किया है, वैसा वे अपने लिए भी तो कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। सक्षम होते हुए भी उन्होंने स्वेच्छापूर्वक भोग को नहीं, बल्कि त्याग को ही स्वीकार किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि आदर्श भोग नहीं, वरन त्याग ही है। श्रीभरत की दृष्टि सिद्धियों की ओर नहीं, भरद्वाज मुनि की त्याग-तपस्या तथा उनकी महिमा की ओर गयी और उनके मन में तपःवृत्ति का संचार होता है। वहाँ दिखाई देनेवाले दोनों प्रकार के भाव सद्भावयुक्त ही थे। श्रीभरत भोगों की ओर से निरपेक्ष हैं और पुरवासियों के मन में जो यत्किंचित आकर्षण होता भी है, तो वह भरतजी के साथ चलने के कारण अन्ततः उन्हें बाँधता नहीं। वे प्रातःकाल उठकर श्रीभरत के साथ चलते हैं और भगवान राम को पाते हैं।

यह एक राजा और त्यागी का बड़ा ही सार्थक मिलन है। दोनों के हृदय में परस्पर एक दूसरे के लिए परस्पर सद्भाव तथा सम्मान की भावना है। कई लोग कहते हैं कि भरद्वाज मुनि ने श्रीभरत की परीक्षा लेने के लिए उनका सम्मान किया था। मैं क्षमा चाहूँगा, रामायण से यह बिल्कुल भी सिद्ध नहीं होता कि महर्षि भरद्वाज ऐसा कुछ चाहते थे, बल्कि उन्होंने तो भरतजी की स्तुति करते हुए कहा है –

सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।
सहित पयाग सुभाग हमारा ॥ २/२१०/४-५

अतः परीक्षा लेने की बात उनके मन में नहीं है। वे तो वस्तुतः इन सिद्धियों को भी श्रीभरत की सेवा में प्रयुक्त करते हैं।

सिद्धियों के सन्दर्भ में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो वे हैं जो सिद्धियों के द्वारा केवल आत्मविज्ञापन करते हैं और दूसरे वे हैं जिनके जीवन में सिद्धियों की अपेक्षा नहीं है। यदि कभी उनके जीवन में सिद्धियाँ दिखाई भी देती हैं, तो केवल दूसरों के श्रम या कष्ट को दूर करने के लिए ही। महर्षि भरद्वाज की यह वृत्ति बड़ी सार्थक है। दूसरी ओर उस भोग को देखकर अयोध्यावासियों अथवा भरतजी के मन में भी भोग के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता –

संपति चकई भरतु चक मुनि आपस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा अनुसार॥ २/२१५

यह सार्थक मिलन है। यहाँ पर त्यागी और राजा का – महर्षि भरद्वाज और श्रीभरत का जैसा सार्थक मिलन हुआ, वैसा वशिष्ठ और विश्वामित्र के सन्दर्भ में नहीं हुआ। वशिष्ठ ने राजा का राजकीय पद्धति से स्वागत किया, परन्तु विश्वामित्र के मन में तत्काल यह बात आ गयी कि इस कौपीनधारी तपस्वी के पास इतनी सम्पदा कहाँ से आ गई। यह उल्टी बात हो गयी। कृतज्ञता और धन्यवाद की वृत्ति आने के स्थान पर, उल्टे यह खोज होने लगी कि इतना वैभव आया कहाँ से ? उनके पूछने पर वशिष्ठजी ने बड़ी सरलता से बता दिया, "मेरे पास कामधेनु है। उससे मैं जो कुछ माँगता हूँ, मुझे मिल जाता है। मैंने उसी की सहायता से आपका स्वागत किया है।" सुनकर विश्वामित्र को लगना चाहिए था कि महात्मा कितने सरल हैं, जो बड़ी सहजता से बता दिया ! लेकिन विडम्बना यह कि उनकी रजोगुणी वृत्ति उल्टी ही दिशा में चली गयी। कहने लगे, "महाराज, जब आपको लंगोटी ही लगाकर रहना है, तो कामधेनु आपके किस काम की ? उसे तो हमारे पास होना चाहिए। आपको तो अधिक-से-अधिक हवन के लिए घी आदि की ही जरूरत पड़ती है न। उसके लिए मैं हजारों गायें भेज देता हूँ और यह गाय आप मुझको दे दीजिए। वशिष्ठजी ने नहीं दिया और विश्वामित्र उसे बलपूर्वक छीन लेने को तैयार हो गये।

इसमें एक संकेत है। कामधेनु किसके पास रहनी चाहिए ? अपनी कामना पूरी करने के लिए हमारे पास एक पद्धति है। जब हम अपनी कोई कामना पूरी करना चाहते हैं, तो कर्म करते हैं और उससे हमारी कामना पूर्ण होती है। दूसरी पद्धति है कामधेनु की। कामधेनु का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है कि कामना-पूर्ति के लिए हम कर्म न करें, केवल संकल्प करें और कामना पूरी हो जाय। यह पद्धति किनकी है ? उनकी जो महापुरुष त्यागी हैं, जिनके जीवन में कर्म का त्याग हो गया है।

कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ॥ ७/१११/३

यदि उनके जीवन में कामधेनु है, तो इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन में न तो स्वयं की कोई कामना है और न ही कामना-पूर्ति के लिए कोई कर्म है। जो कर्म से मुक्त हैं, उनके पास कामधेनु होने का तात्पर्य यह है कि उनके संकल्प में बिना कर्म के भी आवश्यकतानुसार पदार्थों को उत्पन्न कर सकने की क्षमता है। इसलिए कामधेनु यदि त्यागी के पास होगी, तो स्वाभाविक रूप से उसका सदुपयोग ही होगा। किन्तु यदि वह भोगी के हाथ लग जाय, तो कौन कह सकता है कि उसका उपयोग वह कितना अपने हित में करेगा और कितना दूसरों को कष्ट पहुँचाने में। इसलिए पुराणों में किसी राजा के पास कामधेनु का वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु महात्माओं के आश्रम में कामधेनु होने के संकेत हैं।

त्यागी वशिष्ठ के पास कामधेनु देखकर राजा के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। यहाँ पर भी वे ही दोनों हैं – त्यागी और भोगी। नारद और इन्द्र के सन्दर्भ में भी और वशिष्ठ-विश्वामित्र के सन्दर्भ में भी त्यागी और राजा दिखाई दे रहे हैं। जब राजा के मन में इस ईर्ष्यावृत्ति का उदय हुआ कि क्या एक साधु के आश्रम में, इस कुटिया में इतना वैभव होना चाहिए ? और तब अन्य वृत्तियाँ उसके साथ जुड़ गयीं। राजा ने कामधेनु को छीनने का प्रयास किया। किन्तु जब वे इसमें सफल नहीं हुए, तो वहीं विश्वामित्र के चरित्र में मोड़ आता है। इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि विश्वामित्र के चरित्र में ईर्ष्या कोई घातक रूप धारण नहीं कर सकी। पहले तो उन्होंने कामधेनु को छीनने की चेष्टा की, परन्तु बाद में उन्होंने सोचा कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के सामने मेरे सारे शस्त्र व्यर्थ हो गये, अतः मैं भी ब्रह्मर्षि बनने का प्रयास करूँगा। ईर्ष्यावृत्ति यहाँ आकर एक दूसरी दिशा में मुड़ गयी और उसका परिणाम यह हुआ कि वे स्वयं भी वशिष्ठ के जितने ही ऊपर उठने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार उनके मन में त्याग तथा तपस्या के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है और वे सचमुच ही साधना तथा तपस्या के द्वारा ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी बनते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ईर्ष्यावृत्ति यदि ईर्ष्यास्पद के समान महान बनने की दिशा में, सत्कर्म की दिशा में मुड़ जाय, तो वह कल्याणकारिणी बन जाती है। परन्तु ईर्ष्या के द्वारा सत्कर्म करने की जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह कभी कभी केवल दिखावे के लिए होती है। गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में यही कहा कि महाराज, मेरा स्वभाव तो –

किए सहित सनेह अघ जे हृदय राखे चोरि ॥ १५८/३

मैं अपने जीवन में जो पाप करता हूँ, उसे तो छिपाकर रखना चाहता हूँ। भगवान ने पूछा – तुम पुण्य भी तो करते होगे ? गोस्वामीजी बोले – मैं जो भी अच्छा करता हूँ, उसके पीछे जो कारण होते हैं। – कौन कौन से ?

पर प्रेरित इरषा बस कबहुक किय कछु सुभ सो जनावौं ॥ १४२/७

– या तो दूसरों की देखादेखी अथवा दूसरों के सत्कर्म देखकर मेरे मन में जो ईर्ष्या उत्पन्न होती है, उसके कारण। मेरी प्रकृति तो यह है कि मैं सत्कर्म करता हूँ तो केवल ईर्ष्या से प्रेरित होकर ही और दुष्कर्म करता हूँ तो अपने मन से प्रेरित होकर। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि हम उस दुष्कर्म को छिपाते हैं, जो हमारी भीतरी प्रेरणा की वस्तु है और ईर्ष्या के द्वारा होनेवाले सत्कर्मों को – **सो जनावौं** – सबको दिखाने की चेष्टा करता हूँ।

यहाँ पर गोस्वामीजी बड़ा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक संकेत देते हैं। अगर हम ईर्ष्या से प्रेरित होकर सत्कर्म करें, तो इसमें क्या बुराई है ? कोई बुराई नहीं है। यह तो ईर्ष्यावृत्ति का, असद्वृत्ति का भी सदुपयोग है। होना तो यही चाहिए। विश्वामित्र के जीवन में यही हुआ। उनके जीवन में वशिष्ठ से ईर्ष्या हुई और वशिष्ठ से भी श्रेष्ठ बनने के लिए उन्होंने उनसे भी अधिक त्याग तथा तपस्या का व्रत ले लिया। उनकी यह ईर्ष्यावृत्ति एक ऐसी दिशा में मुड़ गयी, जहाँ जाकर यह असद्वृत्ति सद्वृत्ति में परिणत हो गयी और सचमुच ही उन्हें ब्रह्मर्षि के पद पर आरूढ़ करा दिया। यह तो एक श्रेष्ठ परिणति है, होना भी यही चाहिए, परन्तु बहुधा होता क्या है ? प्रतापभानु के प्रसंग में इस ईर्ष्या का दूसरा पक्ष सामने आता है।

❑ (क्रमशः) ❑
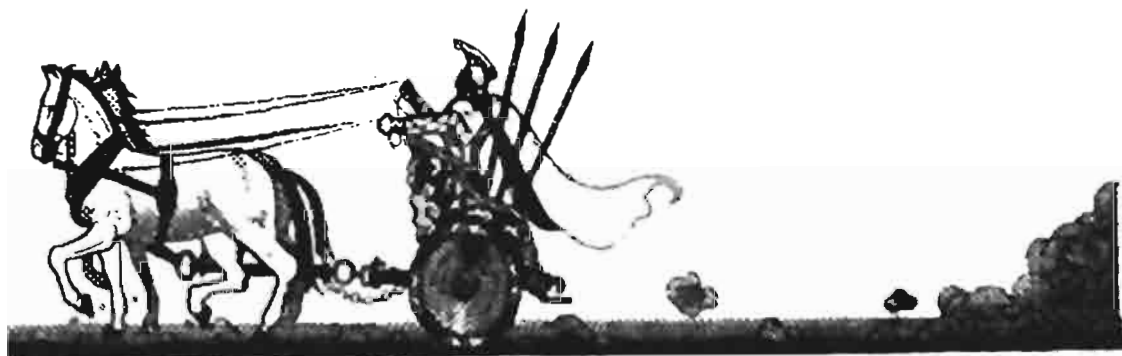
श्री चैतन्य महाप्रभु (३९)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्री श्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

इस प्रकार महाप्रभु के संन्यास-जीवन के बारह वर्ष बीत जाने के बाद उनका चित्त दिन-पर-दिन बाह्य जगत के साथ अपना सम्पर्क विच्छिन्न कर अधिकांश समय सूक्ष्म भावजगत में ही विचरण करने लगा। भक्तिमार्ग की चरम अवस्था में सिद्ध साधक जिन दिव्य अनुभूतियों को पाकर कृतार्थ हो जाते हैं, चैतन्यदेव अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों के दौरान प्रेमाभक्ति की उन्हीं देवदुर्लभ अनुभूतियों के मूर्तिमान विग्रह के रूप में विद्यमान रहे। 'चैतन्य-चरितामृत' के अन्त्यलीला नामक अन्तिम अध्याय में प्रस्फुटित भक्तिमार्ग के उस सर्वोच्च आदर्श का थोड़ा-सा परिचय देने का हम यहाँ प्रयास करेंगे। भक्तिमार्ग का चरम अनुभव है – गोपीप्रेम का आस्वादन।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। (गीता, ७/१६-१८)

– हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, दुःखों से पीड़ित, धन-सम्पदा के अभिलाषी, ज्ञानांकाक्षी तथा तत्त्वज्ञानी – ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरा भजन किया करते हैं। इनमें से चित्त को सदा मुझमें ही लगाये रखनेवाला, एकनिष्ठ तत्त्वज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे भी वह बड़ा प्रिय है। वैसे तो ये सभी प्रकार के भक्त उत्तम हैं, परन्तु मेरे मतानुसार ज्ञानी तो मेरी आत्मा के ही समान है, क्योंकि उसका चित्त (सदा) मुझमें ही निमग्न रहता है और वह सर्वोत्तम गति के रूप में मेरा ही आश्रय लिए हुए है।

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।। (भागवत, १/७/१०)

— ऐसे आत्मा में रमण करनेवाले मुनि भी, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल चुकी है, जिन्हें ज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है, हरि की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, क्योंकि उनके गुणों का ऐसा ही आकर्षण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवद्गीता में तत्त्वज्ञ, नित्ययुक्त तथा अनन्य भक्त को ही सर्वोत्तम कहा गया है। भागवत के अनुसार ऐसे आत्माराम महात्मागण भगवान की अहैतुकी भक्ति में लगे रहते हैं। देहात्मबोध तथा अन्तर में बिन्दु मात्र भी भोगवासना के रहते ऐसी भक्ति की उपलब्धि असम्भव है। इसी को पराभक्ति अर्थात गोपीप्रेम कहते हैं। समाधि द्वारा शुद्ध हृदय में साधन-भजन की सहायता से ऐसी भक्ति का स्फुरण हुआ करता है। व्रज की गोपिकाएँ ऐसी ही उच्च अधिकारिणी थीं।[१]

जब कृपामेघ भगवान कृपावारि का वर्षण करके सांसारिकता से शुष्क भक्त के हृदय-सरोवर को पूरित कर देते हैं, तब उसमें भक्ति-शतदल प्रस्फुटित होता है और भक्तवत्सल प्रभु लोलुप भ्रमर के समान उस प्रफुल्ल हृदय-कमल से प्रेममधु का पान किया करते हैं। वही प्रेमी भक्त के लिए आस्वादनीय आनन्द-चिन्मय-रस है। विभिन्न श्रेणी के कमलों में माधुर्य के समान ही भक्तों के माधुर्यरस में भी उनकी प्रकृति के अनुसार तारतम्य दिख पड़ता है। अलंकारवेत्ताओं की भाषा में यह दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर — इन चार प्रकारों का है। वात्सल्य तथा मधुर रस अत्यन्त प्रगाढ़ एवं स्वादिष्ट हैं और इनमें भी उज्ज्वल मधुर रस ही सर्वोत्कृष्ट है। परमहंसाग्रणी चिरकुमार शुकदेवजी ने राजर्षि परीक्षित को भागवत की कथा सुनाते समय व्रजांगनाओं के साथ परमात्मा श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हुए उस परम उज्ज्वल रस का विवेचन किया है। चिरकाल से लोगों को दुर्बोध प्रतीत होनेवाला वही मधुर-भाव चैतन्यदेव के जीवन के अन्तिम पर्व में रूपायित और व्याख्यायित हुआ है। शास्त्र तथा ऋषिवाक्य की सत्यता प्रमाणित करने को, जगत में उस अत्यद्भुत प्रेम की मधुरिमा प्रकट करने को और जीवों को अहैतुकी भक्ति, निष्काम प्रेम तथा रसस्वरूप श्रीभगवान के अपूर्व माधुर्य का आस्वादन कराने को ही महाप्रभु के जीवन-नाट्य के अन्तिम अंक का अभिनय हुआ। इस परम गोपनीय गोपी-प्रेमास्वादन का तत्त्व बहुत कम लोग ही समझ सके थे। पुरी में श्री दामोदर

१. निर्विकल्प समाधि पराभक्ति की उपलब्धि का प्रथम सोपान है। (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, साधक भाव)

स्वरूप, रामानन्द राय, शिखी माहिती और उनकी बड़ी बहन श्रीमती माधवी दासी – केवल ये ही कतिपय जन इस उच्च भाव की बात समझ पाते थे।

विभिन्न भावों के आवेश में चैतन्यदेव के शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन आते थे और इस तथ्य से सभी अवगत थे, परन्तु अब इस अत्यद्भुत प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में जो अभूतपूर्व विकार दिखाई पड़े, उससे अन्तरंग भक्तगण भी विस्मित तथा स्तम्भित रह गये। बाह्य दृष्टि से वे तब भी पहले के समान ही प्रतिदिन भक्तसंग, भगवच्चर्चा, कीर्तनादि सब कुछ करते, परन्तु वह सब मानो पूर्व अभ्यास के वेग से ही चल रहा था। वस्तुतः उन दिनों उनके मनःप्राण सर्वदा परमात्मा श्रीकृष्ण में ही लीन रहा करते थे। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थ में उनकी उस काल की अवस्था का वर्णन इस प्रकार हुआ है, "प्रभु उन्मत्त के समान गायन तथा नृत्य किया करते थे और उनकी स्नान-भोजन आदि क्रियाएँ देह के स्वभाववश हुआ करती थीं। फिर रात हो जाने पर वे स्वरूप और दामोदर के समक्ष ही अपने अन्तर के भाव अभिव्यक्त करते हुए बातें करते थे।"

चैतन्यदेव उन दिनों अपना अधिकांश समय स्वरूप और दामोदर – अपने इन दो अतिप्रिय भावग्राही भक्तों के संग ही व्यतीत करते थे। कुटिया के द्वार को भीतर से बन्द करके वे लोग आपस में जो चर्चा करते, वह सामान्य लोगों के लिए ग्राह्य होना तो दूर, भक्तों के लिए भी दुर्बोध था। तथापि बाहर के लोगों के साथ वे यथासम्भव पूर्ववत व्यवहार ही करते थे और इस कारण बहुत से लोग उनके गोपीभाव तथा श्रीकृष्ण-अनुभूति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। लोकचक्षुओं से परे निर्जन क्षेत्र में स्थित उनकी इस कुटिया में जो लीलाएँ हुई थीं, वे 'गम्भीरा-लीला' के रूप में सुविदित हैं, क्योंकि उनकी कुटिया को 'गम्भीरा' कहा जाता था।

चैतन्यदेव ने स्वरूप और रामानन्द राय के समक्ष अपने अन्तर का भाव उद्घाटित करते हुए कहा था, "मित्रो, कृष्ण की वह माधुरी सुनो, जिसके लोभ में मेरा मन वैदिक-धर्म त्यागकर योगी और भिक्षुक हो गया है।[२] शुकदेव रूपी

---

२. कापालिक योगीगण कानों में नर-कपाल की अस्थि से बना कुण्डल, हाथ में कद्दू का भिक्षापात्र और शरीर पर कन्था ओढ़े रहते हैं। उनका सर्वांग भस्म से आच्छादित रहता है, हाथ में गुरु द्वारा प्रदत्त डोरी बारह बार लपेटकर बाँधी जाती है और सिर से एक वस्त्रखण्ड झूलता रहता है। वे एकान्त में रहकर निरंजन आत्मा का चिन्तन करते हैं और उनके शिष्यगण गृहस्थाश्रम से जो भी माँगकर लाते हैं, उसी से उनका जीवननिर्वाह होता है। चैतन्यदेव इस सांगरूपक के द्वारा बता रहे हैं कि श्रीकृष्ण की रसमाधुरी के आकर्षण में उनके मन की अवस्था कापालिक योगी के समान हो गयी है। (अनु.)

कारीगर ने कृष्णलीला-मण्डल रूपी शुद्ध शंख-कुण्डल को गढ़ा है। उसी (भागवतरूपी) कुण्डल को कान में पहनकर, तृष्णारूपी भिक्षापात्र हाथ में लिए, आशा की झोली को कन्धे पर रखे, चिन्ता की कन्था ओढ़े, विभूति की धूल से शरीर को आवृत्त किए, वह (मन) 'हा कृष्ण, हा कृष्ण' कहकर प्रलाप किया करता है। हाथ में उद्वेग की बारह डोरियाँ बाँधे, अपने सिर पर लोभ की झोली लिए, क्षीणकाय वह भिक्षा की याचना करता है। व्यास तथा शुकरूपी योगियों ने श्रीकृष्णरूपी निरंजन के जिन व्रजलीलाओं का भागवतादि शास्त्रों में वर्णन किया है, उनका वह प्रतिक्षण गायन करता रहता है। अपने दसों इन्द्रियों को शिष्य बनाकर, 'महाबाउल' का नाम ग्रहण करके वह (मन) शिष्यों को साथ लिए विचरण करता रहता है। मेरे शरीररूपी अपने मकान और विषयभोग रूपी महाधन को त्यागकर वह वृन्दावन चला गया है। सभी मनुष्यों, स्थावर तथा जंगम जीवों और वृक्ष-लतादि रूपी गृहस्थाश्रम से सशिष्य फल-मूल-पत्र-आसन आदि की भिक्षा माँगकर वह अपनी आजीविका चलाता है। कृष्ण के रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि जितने भी गुण हैं; गोपिकाओं द्वारा उनकी सुधा का आस्वादन हो जाने के बाद, अपने पंचेन्द्रिय शिष्यों के साथ उनकी भिक्षा को पाकर वह जीवन धारण करता है। मण्डप के कोने रूपी निर्जनकुंज में शिष्यों को साथ लेकर वह कृष्णध्यान रूपी योगाभ्यास करता रहता है। मेरा मन कृष्णरूपी निरंजन आत्मा को साक्षात देखने के लिए रात भर जागकर ध्यान करता है। मेरा कृष्णवियोगी मन दुःख के कारण योगी हो गया है और इस वियोग के फलस्वरूप उसमें दस दशाएँ परिलक्षित होती हैं। इन दशाओं से व्याकुल होकर मेरा मन शरीरालय को शून्य छोड़कर भाग गया है।"

चैतन्यदेव को निद्रा बहुत कम आती थी। उनकी रातों का अधिकांश भाग भजन-कीर्तन और ध्यान-धारणा में ही बीतता था। अब उनकी निद्रा में और भी कमी आ गयी। स्वरूप उनके शरीर की हालत देखकर, उनके स्वास्थ्य के विगड़ने की आशंका से, उनसे बारम्बार शिकायत करते और नियमित रूप से आहार-निद्रा ग्रहण करने का भी अनुरोध करते। इस पर प्रेमिक संन्यासी स्वरूप को गले लगाकर प्रेमपूर्ण मधुर वाणी में कहते, "प्यारे भाई, मैं क्या करूँ, मैं निरुपाय हूँ। मेरा मन अब मेरे अपने वश में नहीं रहा। मेरा शरीरालय शून्य पड़ा है।" निरंजन आत्मा अर्थात श्रीकृष्ण का साक्षात दर्शन करने की आकांक्षा से उनका ध्यान करने में ही महाप्रभु

की रात बीत जाती थी और मन उन्हीं में पूर्णतः विलीन (अन्तर्दशा-निर्विकल्प समाधि) हो जाने के कारण आहार-निद्रा आदि बाह्यिक व्यवहार हो नहीं पाते थे। उनकी ये उक्तियाँ सुनकर स्वरूप तथा रामानन्द के हृदय विगलित हो उठे। प्रेमाश्रु से उनके कपोल भीग गये। वस्तुतः चैतन्यदेव की तत्कालीन ध्यान-तन्मयता तथा ध्येय वस्तु में उनके मन के विलीन हो जाने से होनेवाली समाधि अवस्था पर विचार करके हम विस्मयविमुग्ध रह जाते हैं। उन दिनों वे न जाने किस उच्चभूमि में, स्थूल जगत के परे स्थित कौन से इन्द्रियातीत राज्य में विचरण करते थे! स्वरूप और रामानन्द तब सर्वदा उनके समीप रहकर, गोवीन्द-काशीश्वर आदि सेवकों की सहायता से बड़ी सावधानीपूर्वक उस पवित्र देह की रक्षा कर रहे थे।

इस अति गुह्यलीला की बात स्वरूप ने अपने परमप्रिय अनुगत शिष्य रघुनाथ दास से कही थी और रघुनाथ ने अपने ग्रन्थ में इसका किंचित परिचय दिया है। 'चैतन्य-चरितामृत'कार रघुनाथ की कृपा से ही इन लीलाओं से अवगत हुए थे और अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में उन्होंने इसका थोड़ा विवरण लिपिबद्ध भी किया है। इन सब गम्भीर तत्त्वों पर चर्चा क..ा हमारी क्षमता के परे है, तथापि हम उसकी थोड़ी-सी झलक देने का प्रयास करेंगे। प्रेम की गम्भीरता क्रमशः चिन्ता, जागरण, उद्वेग, क्षीणता, मलिनता, प्रलाप, पीड़ा, उन्मत्तता, मोह, मृत्यु (निस्पन्दन) – इन दस दशाओं से होकर प्रस्फुटित होती है। इनमें से दो-चार दशाओं का भी विकास अति दुर्लभ है, परन्तु चैतन्यदेव के शरीर में उन दिनों ये दशाएँ प्रतिक्षण अभिव्यक्त हुआ करती थीं। कभी कभी भगवद्विरह की असह्य पीड़ा से वे इतने कातर हो उठते कि नेत्रों के जल से उनकी छाती भीग जाती, दैन्य के विषाद से उनका शरीर दुर्बल हो जाता और उनका करुण आर्तनाद तथा खेदपूर्ण वाणी सुनकर अन्तरंगों के प्राण विदीर्ण हो जाते।

हा! हा! कृष्ण प्राणनाथ व्रजेन्द्रनन्दन।
कहाँ जाऊँ, कहाँ पाऊँ, मुरलीवदन।।

– कहते हुए जब वे स्वरूप को गले से लगाकर रुदन करने लगते, तो उस समय की उनकी व्याकुलता अवर्णनीय हो जाती। फिर भगवद्भाव-विभोर चैतन्यदेव के अन्तर में जब मिलन का स्फुरण होता, तब उनका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता और देह में ऐसा पुलकोद्गम होता कि उनके शरीर के समस्त रोमकूप सेमल वृक्ष के काँटों के समान फूल जाते तथा उनमें से बिन्दु-बिन्दु कर रक्त निःस्रित होने लगता। उनके उस समय के आनन्दोच्छ्वास का भक्तगण भी रसास्वादन करते थे। इस प्रकार कभी

विरह, कभी मिलन, तो कभी किसी अन्य अवस्था के द्वारा सर्वदा भगवद्भाव में ही आविष्ट रहने के कारण उनके देहात्मबोध का लोप हो जाता था। फिर कभी कभी तो उनका मन, शरीर से पूर्णतया वियुक्त होकर भगवान में ऐसा विलीन हो जाता था कि तब उनका शरीर जड़वस्तु के समान असार प्रतीत होने लगता और कभी कभी किसी विशेष भाव के आवेश में उनके हाथ-पाँव संकुचित हो जाते और शरीर कूर्माकार मांसपिण्ड के समान हो जाता। इसके अतिरिक्त कभी कभी किसी अन्य प्रकार के आवेश में उनके धरती पर पड़े शरीर के अस्थि-पंजर आदि ढीले होकर उसे सामान्य से भी दीर्घाकार बना देते। इन सब अवस्थाओं को देखकर भक्तों के विस्मय की सीमा न रहती। बीच बीच में उनके देह-प्राण की क्रिया को समझने में असमर्थ होकर भक्तगण अमंगल की आशंका से व्याकुल हो जाते। केवल स्वरूप दामोदर ही इन समस्त अवस्थाओं का स्वरूप समझ पाते थे। उनके निर्देशानुसार उस उस समय के भावानुसार 'नाम' सुनाते रहने से चैतन्यदेव की काया में चेतना का संचार होने लगता था। उनके भगवत्प्रेम की अद्भुत अभिव्यक्ति के रूप में कभी रुदन-विलाप, कभी हास-उल्लास, कभी विरह, कभी मिलन और कभी अभिमान आदि रूपों में उनकी विविध प्रकार की प्रणयलीला देखकर अन्तरंगगण का अन्तर भी प्रेम से उच्छ्वसित हो उठता था। रामानन्द राय भाव को समझकर उसके अनुकूल श्लोकों तथा कविताओं की आवृत्ति करते और दामोदर सुमधुर पदों का गान करते – इनसे उनके भाव की और भी परिपुष्टि हो जाने तथा विकास हो जाने से उनकी अनुभूति और भी प्रगाढ़ हो उठती थी तथा सभी लोग परमानन्द-सागर में डूब जाते।

जो लोग भगवद्भाव के गूढ़ स्वरूप – अपूर्व विमल आनन्द के तत्त्व की धारणा कर पाने में अक्षम हैं, उन्हें और विशेषकर देहसर्वस्व में विश्वासी जड़वादियों को ये भावावेश तथा दैहिक विकार बड़े ही दुखःकर प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तविकता इसके पूर्णतः विपरीत है। इन्द्रियों द्वारा विषयभोगजनित सर्वोच्च सुख भी परिणामस्वरूप अन्ततः दुःख में ही परिणत होता है; और अतीन्द्रिय भगवत्-अनुभव देहसर्वस्व विषयी व्यक्ति की दृष्टि में बाहर से दुःख के समान प्रतीत होने के बावजूद अन्तर के विमल अक्षय अनन्त आनन्द की ही अभिव्यक्ति-स्वरूप है। भगवत्प्रेमी के अन्तर में विरह का भाव हो अथवा मिलन का, परन्तु भगवान के 'आनन्द चिन्मय' रस के आस्वादन से जिस असीम सुख की उपलब्धि होती है, उसका मर्म हम भला कैसे समझ सकेंगे ? तो भी संसार की समस्त सुखराशि उन्हें अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती है और इस कारण विषयभोग के प्रति उनके मन में बिन्दुमात्र भी

आकांक्षा नहीं दीख पड़ती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विरह की अवस्था में और भगवदनुभव के समय अन्तर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है, भले ही विषयी लोगों को बाहर से वह दुःखमय प्रतीत हो। चैतन्यदेव अपने अन्तर में जिस आनन्दराशि का अनुभव कर बाह्य जगत को भूल जाते थे, उसका किंचित आभास देते हुए उन्होंने दामोदर स्वरूप से कहा था, "श्रीकृष्ण में ऐसा माधुर्य है कि एक बार भी उसका पता मिल जाने पर पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन उसमें एक साथ ही विलीन हो जाते हैं।"

कृष्णरूप शब्द स्पर्श, सौरभ अधर-रस
माधुरी सो कहा नहीं जाय।
देखि लुब्ध पाँच जन, एक अश्व मेरा मन
पाँचों चढ़ि पाँच ओर धायँ॥
सुनो सखि मेरे इस दुःख का कारण
मेरे पंचेन्द्रियगण, महालोभी दस्यु बन
सदा कहें 'हरो परधन'॥
एक अश्व मेरा मन, तदासीन पाँच जन
सो बेचारा किस ओर जाय।
एक साथ खींचें सभी, प्राण जाती है घोड़े की,
यह दुःख सहा नहीं जाय॥

❑ (क्रमशः) ❑

अन्धविश्वास और धर्म

बिना सोचे-विचारे विश्वास करना तो आत्मा का पतन है। तुम नास्तिक भले ही हो जाओ, परन्तु बिना सोच-विचारे किसी चीज में विश्वास न करो। ... तनकर खड़े हो जाओ, अन्धविश्वास छोड़कर तर्क करो। धर्म विश्वास की वस्तु नहीं, बल्कि होने और बनने की वस्तु है। यही धर्म है और यदि तुम इसका अनुभव कर लोगे, तभी धार्मिक कहे जाओगे। इसके पहले तुम पशुओं से भिन्न नहीं हो।

— स्वामी विवेकानन्द

लोकमाता निवेदिता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(दिनांक १३ अक्तूबर १९११ ई० को भगिनी निवेदिता का देहावसान हो जाने पर विश्वकवि ने अपनी आन्तरिक श्रद्धाञ्जलि के रूप में यह लेख लिखा था। इसमें उनके कुछ व्यक्तिगत संस्मरण भी आ गये हैं। विवेक-ज्योति के पाठकों के लिए उक्त लेख का अविकल अनुवाद हम बँगला 'रवीन्द्र रचनावली' के तेरहवें खण्ड से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं०)

भगिनी निवेदिता के साथ जब मेरी पहली बार भेंट हुई, उसके थोड़े दिनों पूर्व ही वे भारत आयी थीं। मैंने सोचा था कि जैसी सामान्य अँग्रेज मिशनरी महिलाएँ हुआ करती हैं, वे भी वैसी ही होंगी, केवल इनका सम्प्रदाय भर अलग है।

मन में ऐसी धारणा होने के कारण ही मैंने उनसे अपनी पुत्री की शिक्षा का भार ग्रहण करने का अनुरोध किया था। उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम कैसी शिक्षा देना चाहते हो?" मैंने कहा, "अँग्रेजी, और सामान्यतः अँग्रेजी भाषा के माध्यम से जैसी शिक्षा दी जाती है।" उन्होंने कहा, "बाहर से कोई एक शिक्षा पिला देने से क्या लाभ? जातिगत निपुणता और वैयक्तिक विशेष क्षमता के रूप में मनुष्य के भीतर जो वस्तु है, उसे जाग्रत कर डालना ही मैं वास्तविक शिक्षा मानती हूँ। नियमबद्ध विदेशी शिक्षा के द्वारा उसे दबा देना मुझे उचित नहीं प्रतीत होता।"

कुल मिलाकर उनके इस मत के साथ मेरे मत में भिन्नता न थी। परन्तु किस प्रकार मनुष्य की ठीक स्वकीय शक्ति तथा वंशगत प्रेरणा को बालक के चित्त में बिल्कुल अंकुर के रूप में ही आविष्कार किया जाय और उसे इस प्रकार जाग्रत किया जाय कि जिससे उसके निजी गहन वैशिष्ट्य का सार्वभौमिक शिक्षा के साथ व्यापक रूप से सामंजस्य हो जाय – इसका उपाय तो मैं जानता नहीं था। सम्भव है कि कोई असाधारण प्रतिभासम्पन्न गुरु यह कार्य अपनी सहज प्रेरणा से कर भी लें, परन्तु यह तो साधारण शिक्षक का काम नहीं है। अतएव हम लोग प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का सहारा लेकर मोटे तौर पर काम चलाते हैं। इससे (मानो) अन्धकार में पत्थर मारा जाता है – इसमें अनेक पत्थरों का अपव्यय होता है और उनमें से बहुत-से गलत स्थानों पर लगकर बेचारे छात्र को आहत करते हैं। मनुष्य के चित्तविशिष्ट पदार्थ को लेकर इस प्रकार दुकानदारी भाव से व्यवहार करने पर निःसन्देह काफी हानि होगी, परन्तु समाज में तो सर्वत्र यही हो रहा है।

यद्यपि मेरे मन में संशय था कि उनमें इस प्रकार की शिक्षा देने की क्षमता है भी या नहीं, तथापि मैंने कहा, "अच्छी बात है। आप अपनी प्रणाली से ही काम कीजिएगा, मैं किसी प्रकार की फरमाइश नहीं करना चाहता। लगता है कि क्षण भर के लिए उनका मन अनुकूल हुआ था, परन्तु दूसरे ही क्षण वे बोलीं, "नहीं, यह मेरा कार्य नहीं है।" बागबाजार की एक गली के पास वे निवास करती थीं। वहाँ पर मुहल्ले की बालिकाओं के बीच रहकर वे उन्हें शिक्षा देंगी ऐसा नहीं, बल्कि उनमें शिक्षा जाग्रत करेंगी। मिशनरियों के समान सिर गिनकर दलवृद्धि के सुयोग को तथा किसी परिवार में अपने परिवार में अपने प्रभाव विस्तार के भाव को उन्होंने अवज्ञापूर्वक त्याग दिया था।

उसके बाद बीच बीच में विभिन्न प्रकार से उनका परिचय पाने के अवसर मुझे मिले थे। उनकी प्रबल शक्ति का मैंने अनुभव किया था, परन्तु साथ ही मैं यह भी समझ गया था कि उनका पथ मेरे चलने के लिए उपयुक्त नहीं है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और साथ ही उनमें और भी एक चीज थी और वह था उनका योद्धापन। उनमें बल था और उस बल को वे दूसरों के जीवन पर बड़ी तीव्रता के साथ प्रयोग करती थीं – मन को पराभूत करके अधिकार जमा लेनेवाला एक विपुल उत्साह उनके भीतर कार्यशील था। जहाँ उन्हें मानकर चलना असम्भव था, वहीं उनके साथ मिलकर चलना भी कठिन था। क्रम-से-कम मैं अपनी तरफ से तो कह सकता हूँ कि उनके साथ मेरे मेल के अनेक अवसर रहने पर भी, एक स्थान पर मैं अपने अन्तर में महान बाधा का अनुभव करता था। वह ठीक ठीक मतभेद की बाधा न होकर, मानो एक बलवान आक्रमण की बाधा थी।

आज यह बात मैं निःसंकोच व्यक्त कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि एक तरफ मेरे चित्त को आहत करने के बावजूद, दूसरी ओर उनके पास से मुझे जैसा उपकार मिला है, वैसा किसी और से मिला हो, ऐसा नहीं लगता। उनके साथ परिचय होने के बाद से ऐसा बारम्बार हुआ है कि मुझे उनके चरित्र का स्मरण कर और उनके प्रति आन्तरिक भक्ति का अनुभव करके मुझे काफी बल मिला है।

स्वयं को इस प्रकार पूर्णतया समर्पित कर देने की अद्‌भुत शक्ति मुझे अन्य किसी व्यक्ति में देखने को नहीं मिली। इस सम्बन्ध में उनके स्वयं के भीतर मानो कोई बाधा ही न थी। उनका शरीर, उनकी आशैशव यूरोपीय आदतें, अपने सगे-सम्बन्धियों की स्नेह-ममता, उनके स्वदेशीय समाज की उपेक्षा और जिनके लिए उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया था, उनकी उदासीनता, दुर्बलता तथा त्याग-स्वीकार का

अभाव – कुछ भी उन्हें विमुख नहीं कर सका था। जिसने उन्हें देखा है, वही समझ सका है कि मनुष्य का सत्स्वरूप और चित्स्वरूप क्या चीज है। मनुष्य के सभी प्रकार के स्थूल आवरणों को झुठलाकर उसकी आन्तरिक सत्ता किस प्रकार अपने अदम्य तेज से अभिव्यक्त हो सकती है, यह देख पाना परम सौभाग्य की बात है। भगिनी निवेदिता में मनुष्य के सम्पूर्ण अजेय माहात्म्य को सामने प्रत्यक्ष देखकर हम लोग धन्य हुए हैं।

पृथ्वी पर जो भी सबसे बड़ी चीजें हमें प्राप्त होती हैं, वे बिना मूल्य ही प्राप्त हुआ करती हैं। उनके लिए हमें मोलभाव नहीं करना पड़ता। मूल्य भी नहीं चुकाना पड़ता, इसी कारण वह वस्तु कितनी बड़ी है, यह बात हम पूरी तौर से समझ नहीं पाते। भगिनी निवेदिता हमें जो जीवन दे गयी हैं, वह अति महान जीवन है – इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा – अपना जो श्रेष्ठतम था, जो महत्तम था, उसे उन्होंने प्रति दिन और प्रति मुहुर्त दान किया है; उसके लिए मनुष्य जितने भी प्रकार की तपस्याएँ कर सकता है, उन सबको उन्होंने स्वीकार किया है। यही उनका संकल्प था कि जो बिल्कुल विशुद्ध होगा, वही वे देंगी – स्वयं को वे उसके साथ जरा-सा भी मिश्रित नहीं करेंगी – अपनी क्षुधा-तृष्णा, यश-अपयश कुछ भी नहीं – भय नहीं, संकोच नहीं, आराम नहीं, विश्राम नहीं।

यह जो इतना बड़ा आत्मविसर्जन हमें घर-बैठे मिला है, इसे हम जिन अंशों में छोटा करके देखेंगे, उन अंशों में हम उससे वंचित होंगे, पाकर भी हमारा पाना नहीं होगा। इस आत्मविसर्जन को निःसंकोच भाव से केवल अपना ही प्राप्त मानकर अचेतन रूप से ग्रहण करने से काम नहीं चलेगा। इसके पीछे कितनी बड़ी एक शक्ति, इसके साथ कैसी बुद्धि, कैसा हृदय, कैसा त्याग और प्रतिभा की कैसी ज्योतिर्मय अन्तर्दृष्टि है; इसकी हमें उपलब्धि करनी होगी।

यदि हम इसकी उपलब्धि करें, तभी हमारा गर्व दूर होगा। परन्तु अब भी हम गर्व करते हैं। जो अपना जीवन इस प्रकार दान कर गयी हैं, उस दृष्टि से उनका माहात्म्य हम जिस परिमाण में अपने मन में ग्रहण नहीं कर पाते, उसी परिमाण में हम इस त्याग-स्वीकार को अपने गर्व का उपकरण बना लेते हैं। हम कहते हैं कि वे हृदय से हिन्दू थीं, अतएव हम हिन्दू लोग कुछ कम नहीं हैं। उनके आत्मनिवेदन में हमारे ही धर्म एवं समाज का महत्व है। इस प्रकार से हम अपनी ओर के दावे को जितना ही बड़ा करते रहे हैं, उनकी ओर के दान को उतना ही छोटा कर रहे हैं।

वस्तुतः वे कितनी मात्रा में हिन्दू थीं, इस पर चर्चा करके देखें तो विभिन्न स्थानों पर हमें बाधित होना पड़ेगा – अर्थात हम हिन्दुआनी के जिस क्षेत्र में हैं, वे भी ठीक उसी क्षेत्र में थीं, यह बात मैं सत्य नहीं मानता। वे हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू समाज को जिस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से देखती थीं – जिस प्रकार शास्त्रीय अपौरुषेय की अटल बाड़ को भेदकर संस्कारमुक्त चित्त से विभिन्न परिवर्तनों तथा अभिव्यक्तियों के माध्यम से विचार तथा कल्पना का अनुसरण करती थीं, हम यदि उस पथ का अनुसरण करें, तो वर्तमान काल में सामान्यजन जिसे हिन्दुआनी कहते हैं, उसकी नींव ही खिसक जायगी। ऐतिहासिक युक्ति को यदि हम पौराणिक उक्ति से बड़ा कर डालें, तो उससे सत्य का निर्णय हो सकता है, परन्तु निर्विचार विश्वास के लिए वह अनुकूल नहीं है।

चाहे जो हो, वे हिन्दू थीं – इस कारण नहीं, बल्कि वे महान थीं, इस कारण हमारे लिए प्रणम्य हैं। वे हमारे समान ही थीं, इसलिए हम उनकी भक्ति करेंगे ऐसी बात नहीं, बल्कि वे हमसे बड़ी थीं इसीलिए हमारी भक्ति के योग्य हैं। इसी दृष्टि से यदि हम उनके चरित्र की चर्चा करें, तो हम हिन्दूत्व के नहीं, बल्कि मनुष्यत्व के गौरव से गौरवान्वित होंगे।

उनके जीवन की जो बात सर्वाधिक हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह यह है कि वे जैसे अत्यन्त भावुक थीं, वैसे ही प्रबल रूप से कर्मठ भी थीं। कर्म में एक तरह की असम्पूर्णता होती है – क्योंकि उसे बाधाओं के बीच क्रमशः विकसित होना पड़ता है – उन्हीं बाधाओं के क्षतचिह्न उसकी सृष्टि के भीतर रह जाते हैं। परन्तु भाव अक्षुण्ण तथा अक्षत वस्तु है। इसी कारण जो भावविलासी हैं, वे कर्म को अवज्ञा अथवा भय की दृष्टि से देखा करते हैं। फिर वैसे ही विशुद्ध कर्मठ लोग हैं, जो भाव को प्रश्रय नहीं देते, वे कर्म के द्वारा किसी बड़ी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। अतः कर्म का कोई दोष उनके हृदय को आघात नहीं पहुँचा सकता।

परन्तु भावुकता विलास-मात्र नहीं है, जहाँ वह सत्य है और जहाँ कर्म प्रभूत उद्यम की अभिव्यक्ति या सांसारिक प्रयोजन का साधन-मात्र नहीं है, वहाँ पर वह भाव की ही सृष्टि है, वहाँ तुच्छ भी कैसे बड़ा हो उठता है और असम्पूर्णता भी मेघविहीन सूर्य की वर्णछटा के समान कैसे सौन्दर्य में प्रकाशमान हो उठती है, यह उन्हीं लोगों ने समझा है, जिन्होंने भगिनी निवेदिता के कर्म पर विचार किया है।

भगिनी निवेदिता जिन कार्यों में लगी थीं, उनमें से कोई भी आयतन में बड़ा

नहीं था। सबका आरम्भ छोटे रूप में हुआ था। देखने में आया कि जहाँ अपने ऊपर विश्वास की कमी रहती है, वहीं बड़े आकार के द्वारा सांत्वना प्राप्त करने की भूख रहती है। भगिनी निवेदिता के लिए यह बिल्कुल भी सम्भव न था। इसका मुख्य कारण यह है कि वे बिल्कुल विशुद्ध थीं। जितना सत्य है, उतना ही उनके लिए पूर्णतः यथेष्ट था, उसे आकार में बड़ा करके दिखाने की आवश्यकता का उन्हें जरा-सा भी बोध नहीं होता था और इस प्रकार बड़ा करके दिखाने के लिए जिस मिथ्या मिलावट का आश्रय लेना पड़ता है, उससे उन्हें आन्तरिक घृणा थी।

इसी कारण एक अद्‌भुत दृश्य देखने में आया – जिन (बालिकाओं) की असामान्य शिक्षा तथा प्रतिभा को उन्होंने गली के कोने में एक ऐसे कर्मक्षेत्र के रूप में चुन लिया था, वह बिल्कुल भी पृथ्वी के लोगों की दृष्टि में पड़नेवाला नहीं था। यह भी वैसे ही है, जैसे विराट विश्वप्रकृति अपनी सम्पूर्ण विपुल शक्ति के साथ मिट्टी के नीचे स्थित एक छोटे-से बीज का पालन करने में भूल नहीं करती। अपने इस कार्य की उन्होंने कभी बाहर घोषणा नहीं की और हम लोगों के पास कभी इसके लिए उन्होंने आर्थिक सहायता की आशा भी नहीं की। उन्होंने इसका जो भार वहन किया, वह चन्दे के रुपयों से नहीं, बचत के धन से भी नहीं, बल्कि पूर्णतः अपने उदरान्न के अंश से किया था।

उनमें शक्ति कम थी, इस कारण उनका कार्य छोटा रहा हो – ऐसी बात नहीं। यह बात स्मरण रखनी होगी कि भगिनी निवेदिता में जो क्षमता थी, उससे वे अपने देश में सहज ही प्रतिष्ठा अर्जित कर सकती थीं। वे अपने जिस किसी भी स्वदेशवासी के सम्पर्क में आयीं, सभी उनकी प्रबल मनःशक्ति का लोहा मानने को बाध्य हुए थे। अपने ही देश के लोगों के बीच वे जो ख्याति प्राप्त कर सकती थीं, उस ओर उन्होंने दृष्टिपात तक नहीं किया।

फिर इस देश के लोगों के मन में अपना प्रभाव बढ़ाकर यहाँ भी वे अपना एक प्रमुख स्थान बना लें, ऐसी इच्छा भी उनके मन को प्रलुब्ध नहीं कर सकी। भारतवर्ष के कार्य को अपने जीवन का कार्य मानकर ग्रहण करनेवाले अन्य यूरोपवासियों को भी हमने देखा है, परन्तु उन लोगों ने अपने को सबके ऊपर रखने का प्रयास किया है – वे लोग श्रद्धापूर्वक स्वयं को दान नहीं कर सके – उनके दान में कहीं-न-कहीं हमारे प्रति अनुग्रह का भाव है। परन्तु – **श्रद्धया देयं अश्रद्धया अदेयम्** – क्योंकि बायें हाथ की अवज्ञा दाहिने हाथ के दान का अपहरण कर लेती है।

परन्तु भगिनी निवेदिता ने अपने आपको आन्तरिक प्रेम तथा पूर्ण श्रद्धा के साथ भारतवर्ष को दान कर दिया था। उन्होंने स्वयं को जरा-सा भी बचाकर नहीं रखा था। तथापि ऐसी बात भी नहीं कि उन्होंने अपने अतीव मृदु स्वभाव के कारण अत्यन्त दुर्बलतापूर्वक स्वयं का लोप कर दिया हो। पहले ही हम आभास दे आये हैं कि उनमें एक अदम्य बल था और ऐसा भी नहीं था कि वे उसका प्रयोग न करती हों। वे जो कुछ चाहती थीं, अपने समग्र मन-प्राण से चाहती थीं और भिन्न मत या स्वभाव से उसमें बाधा आने पर उनकी असहिष्णुता भी काफी उग्र हो उठती थी। मुझे नहीं लगता कि उनकी यह पाश्चात्य स्वभाव-सुलभ प्रताप की प्रबलता कोई अनिष्ट नहीं करती थी – क्योंकि जो कुछ भी मनुष्य को अभिभूत करने का प्रयास करता है, वही मनुष्य का शत्रु है – इसके बावजूद मैं कहता हूँ कि उदार महत्ता उनकी प्रचण्ड प्रवलता को काफी पीछे छोड़ गयी थी। वे जिसे अच्छा समझतीं, उसी को जयी बनाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाकर संघर्ष करतीं, और स्वयं ही उस जयगौरव का वरण करने का लोभ उनमें लेशमात्र भी नहीं था। दल बनाकर उसका नेतृत्व करना उनके लिए बिल्कुल भा। कठिन नहीं था, परन्तु विधाता ने उन्हें दलपति के रूप में भी काफी ऊँचा आसन प्रदान किया था, अपने भीतर के उस सत्य के आसन से उतरकर उन्होंने बाजार में मंच नहीं बनाया। इस देश को वे अपना जीवन दे गयी हैं, परन्तु दल नहीं छोड़ गयी हैं।

तथापि इसका कारण यह नहीं है कि उनके भीतर रुचिगत या बुद्धिगत आभिजात्य का अभिमान था, अर्थात जनसाधारण के प्रति अवज्ञा का भाव होने के कारण उन्होंने उनका नेतृत्व न किया हो, ऐसी बात नहीं। जनसाधारण के प्रति कर्तव्य सम्बन्धी हमारा बोध किताबी है – इस विषय में हमारा बोध कर्तव्यबुद्धि से अधिक गहराई तक प्रवेश नहीं कर सका है। परन्तु माँ जैसे पुत्र को स्पष्ट रूप से समझती है, वैसे ही भगिनी निवेदिता जनसाधारण को प्रत्यक्ष सत्ता के रूप में जानती थीं। वे इस बृहत भाव को एक विशेष व्यक्ति के समान ही प्रेम करती थीं। अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना के द्वारा उन्होंने इस पीपल – जनसाधारण को आवृत्त कर रखा था। यह यदि केवल एक शिशु होता, तो वे उसे अपनी गोद में रखकर उसे अपना जीवन देकर मनुष्य बना देतीं।

वस्तुतः वे लोकमाता थीं। जो मातृभाव अपने परिवार के बाहर के एक समग्र देश के ऊपर अपने को व्यक्त कर सके, ऐसी मूर्ति इसके पहले कभी हमारे देखने में नहीं आयी। इस विषय में पुरुष का जो कर्तव्यबोध है, उसका कुछ कुछ आभास हमें

मिला है, परन्तु नारी का परिपूर्ण ममत्वबोध हमें देखने को नहीं मिला था। वे जब 'आवर पीपुल' (हमारी जनता) कहतीं, तो उससे जिस नितान्त आत्मीयता का सुर भासित होता था, वैसा हममें से किसी के भी तो कण्ठ से नहीं निकलता। भगिनी निवेदिता देश के लोगों को जैसा सत्य बनाकर प्रेम करती थीं, उसे जिसने देखा है, वह निश्चय ही समझ गया होगा कि सम्भव है कि हम लोग देशवासियों के लिए समय देते हों, धन देते हों और यहाँ तक कि जीवन भी देते हों, परन्तु हम उन्हें अपना हृदय नहीं दे सके हैं – उन्हें वैसे अत्यन्त सत्य समझकर निकट से जानने की शक्ति हम अर्जित नहीं कर सके हैं।

हम लोग जब देश या मानवता या इसी तरह की किसी समष्टिगत सत्ता को मन के भीतर देखने का प्रयास करते हैं, तो उसे अत्यन्त अस्पष्ट रूप से ही देख पाते हैं और उसका कारण भी है। हम ऐसी बृहत व्यापक सत्ता को केवल मन के द्वारा ही देखना चाहते हैं, आँखों से नहीं देखते। जो व्यक्ति देश के प्रत्येक मनुष्य के भीतर समग्र देश को नहीं देख पाता, वह मुख से चाहे जो कह ले, परन्तु देश को यथार्थ रूप से नहीं देखता। भगिनी निवेदिता को देखा है – वे जनसाधारण को देखती थीं, स्पर्श करती थीं, केवल मन-ही-मन कल्पना नहीं करती थीं। एक बड़े गाँव में कुटियावासिनी एक साधारण मुसलमान महिला के साथ जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक मैंने उन्हें वार्तालाप करते देखा है, वैसा सामान्य लोगों के लिए सम्भव नहीं, क्योंकि साधारण व्यक्ति के भीतर बृहत मानव को प्रत्यक्ष देखनेवाली वह दृष्टि अत्यन्त असाधारण है। वही दृष्टि उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक थी, इसीलिए इतने दिन भारतवर्ष के इतने निकट रहकर भी उनकी श्रद्धा में ह्रास नहीं आया था।

सामान्य जन भगिनी निवेदिता के हृदयधन थे, इसीलिए वे केवल दूर से ही उनका उपकार करके अनुग्रह नहीं करती थीं। वे उन लोगों का सान्निध्य चाहती थीं, उन्हें पूर्ण रूप से जानने के लिए वे अपने पूरे मन को उनकी ओर प्रसारित कर देती थीं। उन लोगों के धर्म-कर्म, कथा-कहानी, कला-साहित्य आदि उनकी जीवनयात्रा के समस्त विवरण को, न केवल बुद्धि अपितु अपनी ममता के द्वारा ग्रहण करने का उन्होंने प्रयास किया था। उनमें जो कुछ अच्छा है, सुन्दर है, नित्य वस्तु है, उसी को उन्होंने चरम आग्रह के साथ ढूँढ़ा है। मानव के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा तथा एक आन्तरिक मातृस्नेह के चलते ही वे इस अच्छाई में विश्वास करती थीं और उसे खोज पाती थीं। इस आग्रह के वेग में उनसे कभी गल्ती न हुई हो, ऐसी बात भी नहीं है, परन्तु श्रद्धा के गुण से उन्होंने जिस सत्य का उद्धार किया है, उसके

सामने वे सारी भूलें तुच्छ हैं। समस्त अच्छे शिक्षक यह जानते हैं कि प्रकृति ने शिशु के स्वभाव के भीतर ही शिक्षा की सहज प्रवृत्ति को निहित कर रखा है; बच्चों की चंचलता, उनका अस्थिर कुतूहल, खेलकूद — यह सब प्राकृतिक शिक्षाप्रणाली है; जनसाधारण में भी एक उसी प्रकार का शिशुत्व है। उसी कारण जनमानस ने अपने को शिक्षा तथा सांत्वना देने के विभिन्न उपायों की सृष्टि की है। जैसे बच्चों का बचपना निरर्थक नहीं होता — वैसे ही जनसाधारण के विभिन्न संस्कार तथा प्रथाएँ निपट मूढ़ता नहीं हैं — वह सब अपने को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देने के लिए उनकी अन्तर्निहित चेष्टा है और वही उनकी स्वाभाविक शिक्षा का पथ है। मातृहृदय निवेदिता जनसाधारण के इन समस्त आचार-व्यवहारों को इसी दृष्टि से देखती थीं। इसी कारण उनके अन्तर में उन सबके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। उनकी सारी बाह्य रूढ़ता को भेदकर वे उनके भीतर मानवप्रकृति के चिरन्तन गूढ़ अभिप्राय देख पाती थीं।

जनसाधारण के प्रति उनका यह जो मातृस्नेह था, वह एक ओर तो जैसा करुणा तथा कोमलता से युक्त था, दूसरी ओर वैसे ही शावकवेष्ठित बाघिन के समान प्रचण्ड भी था। बाहर से कोई निर्ममतापूर्वक इनकी कुछ निन्दा करे, तो वे इसे सह नहीं पाती थीं — अथवा जहाँ सरकार का कोई अन्याय अविचार इन लोगों को आघात पहुँचाने को उद्यत होता, वहाँ उनका तेज प्रदीप्त हो उठता। कितने ही लोगों की नीचता तथा विश्वास-घातकता उन्होंने सहन की थी, कितने ही लोगों ने उनसे छल किया था, अपने अतीव सीमित संसाधनों के द्वारा उन्होंने कितने ही नितान्त अयोग्य लोगों के असंगत हठों को पूरा किया था — सब कुछ उन्होंने आनन्दपूर्वक सहन किया था; उनका एकमात्र भय था, तो वह यही कि कहीं उनके घनिष्ट मित्रगण हीनता के इन दृष्टान्तों के द्वारा उनके 'पीपल्स' (जनसाधारण) के प्रति कोई गलत निष्कर्ष न निकाल बैठें। इनमें जो कुछ अच्छा है, उसे वे जैसे देखने का प्रयास करती थीं, वैसे ही अनात्मियों की अश्रद्धापूर्ण दृष्टि से इन लोगों की रक्षा के लिए अपने सम्पूर्ण मातृहृदय से इन्हें आवृत्त कर लेना चाहती थीं। इसका कारण यह नहीं कि सत्य को छिपा लेना उनका उद्देश्य रहा हो, बल्कि उन्हें पता था कि अश्रद्धा के द्वारा इन लोगों का अपमान करना अत्यन्त सहज है और स्थूलदृष्टि लोगों के लिए वही सम्भव है, परन्तु इनके अन्तःपुर में जहाँ लक्ष्मी निवास कर रही हैं, वहाँ तो इन श्रद्धाहीन लोगों को प्रवेश का अधिकार ही नहीं है — इसी कारण इन समस्त विदेशी दिङ्नागों के 'स्थूल हस्तावलेप' से इन अपने लोगों की रक्षा करने के लिए वे ऐसी व्याकुल हो उठती थीं; और हमारे देश के जो लोग विदेशियों के

सम्मुख ऐसी दीनता प्रकट करने जाते कि हमारे तो कुछ भी नहीं है और तुम्हीं लोग हमारे एकमात्र सहारे हो, उन्हें वे अपने तीव्र रोष की वज्रशिखा के द्वारा विद्ध कर डालना चाहती थीं।

ऐसे यूरोपवासियों की बात भी सुनने में आती है, जो हमारे शास्त्र पढ़कर, वेदान्त-चर्चा करके, हमारे किन्हीं साधु-सज्जन व्यक्ति के चरित्र या वार्तालाप से आकृष्ट होकर, भारतवर्ष के प्रति भक्ति लिए हमारे बीच आये हैं और अन्त में दिन-पर-दिन उस भक्ति को विसर्जित करते हुए खाली-हाथ अपने देश लौट गये हैं। उन्होंने शास्त्र में जो कुछ पढ़ा, साधुचरित्र में जो कुछ देखा, उसे समग्र देश की निर्धनता तथा असम्पूर्णता का आवरण भेदकर उसे नहीं देख सके। उनकी भक्ति मोह मात्र है, वह मोह अन्धकार में ही टिका रहता है, आलोक में आते ही उसकी समाप्ति में समय नहीं लगता।

परन्तु भगिनी निवेदिता की जो श्रद्धा है, वह मोह नहीं, बल्कि सत्य पदार्थ है — वह मनुष्य के भीतर दर्शनशास्त्र के श्लोक नहीं ढूँढ़ता था, अपितु बाहर के समस्त आवरणों का भेद करते हुए बिल्कुल मर्मस्थल तक पहुँचकर उसके मनुष्यत्व को स्पर्श करता था। इसीलिए हमारे देश को अत्यन्त हीन दशा में देखकर भी वे कुण्ठित नहीं हुईं। सारे दैन्य ने उनके स्नेह को उद्वेलित किया है, अवज्ञा को नहीं। हमारा आचार-व्यवहार, बोलना-चालना, वेशभूषा और हमारे प्रतिदिन के क्रिया-कलाप एक यूरोपीय को कैसे असह्य चोट पहुँचाते हैं, इसे हम ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाते, इसी वजह से अपने प्रति उनकी असौजन्यता को हम पूरी तौर से बेतुका समझते हैं। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने से ही हम समझ सकते हैं कि छोटी-छोटी रुचियों, आदतों तथा संस्कारों की बाधा कितनी बड़ी बाधा है, क्योंकि अपने ही देश के भिन्न श्रेणी तथा भिन्न जातियों के बारे में वह हमारे मन में भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। बाड़ की बाधा की तुलना में छोटे-छोटे काँटों की बाधा भी कुछ कम नहीं है। अतः यह बात हमें स्मरण रखनी होगी कि भगिनी निवेदिता जो कलकत्ता के बंगालीपाड़ा की एक गली में बिल्कुल हमारे घर के भीतर आकर रहीं, उसके दिन-रात प्रति मुहुर्त के विचित्र वेदना का इतिहास प्रच्छन्न रहा करता था।

एक तरह के स्थूल रुचि के लोग हैं, जिन्हें थोड़ा-कुछ बिल्कुल भी स्पर्श नहीं करता। उनकी जड़ता ही अनेक आघातों से उनकी रक्षा करती है। भगिनी निवेदिता बिल्कुल भी वैसी व्यक्ति न थीं। सब ओर से उनकी बोधशक्ति सूक्ष्म तथा प्रबल थी; रुचि की वेदना उनके लिए नगण्य न थी। पग-पग पर तामसिकता का परिचय

देनेवाली हमारी घर-बाहर की जड़ता, शिथिलता, अस्वच्छता, अव्यवस्था और सब प्रकार के प्रयासों के अभाव ने निःसन्देह उन्हें तीव्र पीड़ा दी है, परन्तु पराभूत नहीं कर सकी है। सबसे कठिन परीक्षा, यही जो प्रतिक्षण की परीक्षा है, इसमें वे विजयी हुई थीं।

शिव के प्रति सती का सच्चा प्रेम था, इसीलिए उन्होंने अर्धाहार, उपवास और अग्निताप सहन करते हुए अपने अत्यन्त सुकुमार तन-मन को कठोर तपस्या में समर्पित कर दिया था। इन सती निवेदिता ने भी दिन-पर-दिन जो तपस्या की थी, उसकी कठोरता असीम थी – उन्होंने अर्धाहार तथा अनाहार स्वीकार किया था, गली के भीतर जिस मकान में वे रहती थीं, वहाँ ग्रीष्म के ताप में हवा के अभाव में वे अनिद्रा में रात बिता देती थीं, तथापि चिकित्सकों तथा मित्रों के सहठ अनुरोध पर भी उन्होंने उस मकान को छोड़ा नहीं; और उन्होंने अपने बचपन से चले आ रहे समस्त संस्कारों तथा आदतों को प्रतिक्षण पीड़ा देकर भी प्रफुल्ल चित्त के साथ दिन बिताये हैं – यह जो सम्भव हुआ है और यह सब स्वीकार करके भी अन्त तक उनकी तपस्या भंग नहीं हुई, इसका एकमात्र कारण यह है कि भारतवर्ष के कल्याण के लिए उनकी प्रीति नितान्त सत्य थी, वह मोह नहीं था; मनुष्य के भीतर जो शिव हैं, उन्हीं के प्रति इन सती ने पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किया था। मनुष्य के अन्तर-कैलाश में स्थित शिव को ही जो अपने पतिरूप में वरण करना चाहें, उनकी साधना के समान कठिन साधना और किसकी हो सकती है ?

महादेव ने एक दिन स्वयं ही छद्मवेश में सती के पास आकर कहा था, "हे साध्वी, तुम जिनके लिए तपस्या कर रही हो, वे क्या तुम्हारे समान रूपवती की इतनी कठोर साधना के योग्य हैं ? वे निर्धन, वृद्ध, कुरूप हैं और उनके आचरण भी अद्भुत हैं।" तपस्विनी ने इस पर क्रुद्ध होकर कहा था, "तुम जो कह रहे हो, वह सब सत्य हो सकता है, तथापि मेरा सम्पूर्ण मन उन्हीं के भाव में 'एकरस' होकर स्थिर हो गया है।"

सती के मन को शिव के भीतर ही जो भाव का रस प्राप्त हुआ है, फिर क्या वे बाह्य धन-यौवन, रूप और आचरण में तृप्ति खोज सकती हैं ? भगिनी निवेदिता का मन सर्वदा उसी अनन्यदुर्लभ गहन भावरस से पूर्ण रहा करता था। इसी कारण वे निर्धन के भीतर भी ईश्वर को देख सकी थीं और बाहर से जिसमें रूप का अभाव देखकर रुचिविलासीगण घृणापूर्वक दूर हट जाते हैं, उन्हीं के रूप से मुग्ध होकर उन्हीं के कण्ठ में उन्होंने अपने अमर जीवन की शुभ्र वरमाला समर्पित कर दी थी।

हम लोगों ने अपने नेत्रों के समक्ष सती की यह जो तपस्या देखी, वह हमारे विश्वास की जड़ता को दूर कर दे – हम इस बात को निःसंशय सत्य के रूप में जान सकें कि मनुष्य के भीतर शिव हैं, निर्धन की पर्णकुटी तथा निम्न वर्णों की उपेक्षित बस्ती में भी उनका देवलोक फैला है और जो व्यक्ति समस्त दारिद्र्य, कुरूपता एवं कदाचार के बाह्य आवरण को भेदकर भावदृष्टि से इन परम ऐश्वर्यमय परम सुन्दर को एक बार भी देख सका है, वह मनुष्य की अन्तरतम आत्मा को पुत्र से भी प्रिय, वित्त से भी प्रिय और सर्वस्व से भी प्रिय के रूप में वरण कर लेता है।[१] वह भय को पार कर लेता है, स्वार्थ को जीत लेता है, आराम को तुच्छ समझता है, संस्कार-बन्धन को छिन्न कर डालता है और स्वयं की ओर क्षणमात्र के लिए भी भ्रूक्षेप नहीं करता। ❑

---

१. तदेतत् पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतरं यदयमात्मा। (बृह० उप० १/४/८)

माँ के सान्निध्य में (४०)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

३० जुलाई, १९१८

आज अपराह्न में प्रेमानन्द स्वामी ने देहत्याग किया। रात के समय मैं माँ के पास गयी। माँ बोलीं, "आ गयी बेटी, बैठ! आज मेरा बाबूराम चला गया। सुबह से ही आँखों से जल पड़ रहा है।" इतना कहकर वे रोने लगीं! – "बाबूराम मेरे प्राणों की चीज था। मठ की शक्ति, भक्ति, युक्ति सब मेरे बाबूराम के रूप में गंगातट को आलोकित करके घूमा करती थी। बाबूराम की माँ पुत्रहीन घर की लड़की थीं, उसे पिता की सम्पत्ति मिली थी। इस कारण उसे थोड़ा अहंकार था। वह स्वयं ही कहती, 'हाथ में कंगन और कमर में सोने का चन्द्रहार पहनकर लगता कि दुनिया में कोई कुछ भी नहीं है।' वह चार सन्तान छोड़ गयी है। केवल एक की ही उसके रहते मृत्यु हुई थी।"

थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि बीच के कमरे की दक्षिणी दीवाल पर ठाकुर का जो एक बड़ा-सा चित्र था, माँ उनके चरणों में सिर रखकर करुण स्वर में कह रही हैं, "ठाकुर, उसे ले गये!" क्या ही मर्मभेदी स्वर था उनका! हम लोगों को भी बड़ी रुलाई आने लगी।

इधर गोलाप-माँ बड़ी बीमार थीं, उन्हें भयानक खूनी पेचिश हुआ था।

३१ जुलाई १९१८

रात के साढ़े सात बजे हैं। माँ मन्दिर में बैठी हैं। जाकर प्रणाम करके उठते ही वे बोलीं, "बरामदे में मेरा आसन बिछा दे तो बेटी, और तख्त के पास फर्श पर बिछे हुए बिस्तर को समेटकर रख दे। आरती के समय लोग यहाँ बैठकर झाँझ बजायेंगे।" विलास महाराज आरती का आयोजन कर रहे थे। बरामदे में आसन लगा देने पर माँ ने कहा, "कमण्डलु में गंगाजल है, ले आ।" गंगाजल से हाथ-मुख धोकर वे जप में बैठीं और पंखा मेरे हाथ में देकर हवा करने को कहा। थोड़ी देर बाद आरती आरम्भ हुई। माँ ने "गुरुदेव, गुरुदेव" – कहते हुए

हाथ जोड़कर प्रणाम किया और जप पूरा करके आरती देखने लगीं । आरती समाप्त हो जाने पर विलास महाराज माँ को प्रणाम करने के बाद उठकर बोले, "माँ, आज बड़ी गर्मी है ।" माँ ने चिन्तित होकर कहा, "थोड़ी-सी हवा करे?"

उन्होंने कहा, "कौन करेगा, माँ?"

माँ – यह बिटिया कर देगी, करो तो, बेटी!

उनकी ओर दो-एक बार हवा करते ही वे बोले, "नहीं, नहीं, वे आपको हवा कर रही हैं, आपको ही करें ।" यह कहकर वे बाहर चले गये ।

थोड़ी देर बाद माँ ने प्रेमानन्द स्वामी का प्रसंग उठाकर कहा, "देख बेटी, बाबूराम के शरीर में और कुछ नहीं था, केवल ढाँचा भर बचा था ।" उसी समय चन्द्रबाबू ऊपर आकर उस बातचीत में शामिल हो गये और कुछ भक्तों ने बाबूराम महाराज के अन्तिम संस्कार के लिए चार-पाँच सौ रुपये के चन्दन-काष्ट, घी, धूप, गुग्गुल, फूल आदि चीजें दी थीं – यही सब बताने लगे । माँ ने कहा, "अहा ! ठाकुर के भक्त के लिए देकर उन्हीं लोगों ने अपने रुपये सार्थक कर लिए। भगवान ने उन्हें दिया है, और भी देंगे ।" चन्द्रबाबू प्रणाम करके उठ गये। माँ कहने लगीं, "सुन बेटी, चाहे जितना भी बड़ा महापुरुष ही क्यों न हो, देह धारण करके आने पर देह का सारा भोग लेना पड़ता है । पर अन्तर केवल यही है कि साधारण लोग तो रोते हुए जाते हैं, परन्तु वे लोग जाते हैं हँसते हँसते – मृत्यु मानो उनके लिए खेल हो !"

माँ पुनः कहने लगीं, "अहा ! मेरा बाबूराम बचपन में ही आया था । ठाकुर उसके साथ कितनी ही मजेदार बातें करते और मेरे नरेन, बाबूराम आदि हँसते हँसते लोटपोट हो जाते । काशीपुर में एक दिन मैं ढाई सेर दूध का एक कटोरा लेकर सीढ़ियाँ चढ़ते समय सिर चकरा जाने के कारण गिर पड़ी । दूध तो गया ही, मेरी एड़ी की हड्डी भी खिसक गयी । नरेन, बाबूराम ने आकर मुझे सम्हाला। बाद में पाँव काफी सूज गया । सुनकर ठाकुर ने बाबूराम से कहा, 'तो बाबूराम, अब क्या होगा, खाने की क्या व्यवस्था होगी, कौन मुझे खिलायेगा?' उन दिनों वे माँड़ खाया करते थे । मैं माँड़ बनाकर ऊपर के कमरे में ले जाकर उन्हें खिला आती थी । उन दिनों मैं नथ पहनती थी, इसीलिए उन्होंने अपनी नाक पर हाथ घुमाकर इशारे से कहा, 'ओ बाबूराम, वह जो है न, उसे तू टोकरी में सिर पर उठाकर यहाँ ला सकेगा?' ठाकुर की बात सुनकर नरेन और बाबूराम के तो हँसते हँसते पेट में बल पड़ गये ! इन लोगों के साथ वे इसी प्रकार से व्यंग्य-विनोद

किया करते थे । फिर तीन दिनों बाद सूजन थोड़ा कम हो जाने पर वे लोग मुझे सहारा देकर ले जाते – और मैं उन्हें खिला आती । बीच के कई दिन गोलाप-माँ उनके लिए माँड़ बना देती और नरेन खिला आता ।

"बाबूराम अपनी माँ से कहता, 'तू मुझे भला कितना प्यार करती है ! ठाकुर हम लोगों से जितना स्नेह करते हैं, तुम वैसा स्नेह करना नहीं जानती ।' वह बोलती, 'कहता क्या है रे?' उनका ऐसा ही प्रेम था । बाबूराम चार साल की अवस्था में ही कहता, 'मैं विवाह नहीं करूँगा – विवाह करने से मर जाऊँगा ।' ठाकुर ने जब कहा था, 'बाद में सूक्ष्म शरीर में मैं लाखों मुखों से खाऊँगा ।' तो इस पर बाबूराम ने कहा था, 'आपका लाख-वाख मैं नहीं चाहता, मेरी तो इच्छा है कि आप इसी मुख से खायें और मैं यही मुख देखूँ ।'

"जिसके बहुत से लड़के-बच्चे हो जाते, ठाकुर उसे ग्रहण नहीं करते थे । एक शरीर से पच्चीस बच्चे हो रहे हैं, वे भी क्या मनुष्य हैं ! संयम आदि कुछ भी नहीं है – मानो पशु हैं !"

गोलाप-माँ की बीमारी में आज थोड़ा सुधार है । किसी दवा के साथ एनिमा दिया गया है । सरला ने आकर बताया – डॉ. विपिन बाबू ने कहा है, "उन्हें ठीक होने में तीन महीने लगेंगे ।"

माँ ने कहा, "खूनी पेचिश क्या छोटी-मोटी बीमारी है ! सो अवश्य लगेगा । ठाकुर को भी इसी तरह के आँव की प्रवृत्ति थी । दक्षिणेश्वर में इसी (वर्षा) काल में उन्हें अक्सर आँव होता था । नौबत की ओर के लम्बे बरामदे के किनारे काठ के एक बक्से में छेद करके नीचे मिट्टी का तसला लगा दिया गया था । वहीं पर वे शौच जाया करते थे । मैं सुबह का फेंक आती थी । शाम का वे लोग फेंकते । उसी समय एक महिला आयी थी, बताया कि वाराणसी में रहती है । उसके कहे अनुसार प्रदीप के काँच पर अँगुली को तपाकर प्रतिदिन ठीक इक्कीस बार सेंक देने से मलद्वार की सूजन घट गयी । तब मैं सोचती – एक तो आँव की बीमारी, उस पर यह गरम सेंक! बीमारी कहीं बढ़ न जाय । किन्तु उसमें वृद्धि तो नहीं हुई, बल्कि ठीक ही हो गया । वही महिला मुझे उस मकान[१] से नौबत में ले आयी थी; बोली, 'माँ, उन्हें ऐसी बीमारी है, और तुम यहाँ रहोगी?' मैंने कहा, 'क्या करूँ, भान्जे की बहू अकेली पड़ जायेगी, भान्जा (हृदय) वहाँ ठाकुर के

१. दक्षिणेश्वर ग्राम के भीतर इस समय जहाँ ठाकुर के भतीजे रामलाल दादा का घर बना है, उसकी बगल में ही उस समय माँ के निवास के लिए झोंपड़ी बनी थी । हृदय के द्वितीय विवाह की पत्नी भी वहीं रहती थी ।

पास रहता है ।' महिला ने कहा, 'सो हुआ करे, वे लोग दूसरे किसी को रख देंगे। इस समय क्या तुम्हारा उन्हें छोड़कर दूर रहना चल सकता है?' मैं उसकी बात सुनकर उसके साथ चली आयी । कई दिनों बाद उन्हें थोड़ा आराम हो जाने के बाद वह महिला चली गयी । कहाँ गयी, उसका मुझे पता नहीं चला । इसके बाद उससे भेंट नहीं हुई । उसने मेरा बड़ा भला किया है । वाराणसी में जाकर भी मैंने उसकी खोज की थी, परन्तु मिली नहीं । उनकी आवश्यकता की सारी चीजें न जाने कहाँ से आ जातीं और फिर न जाने कहाँ चली जातीं !

"मुझे भी एक बार आँव की बीमारी हुई थी, बेटी । शरीर क्या से क्या हो गया ! गाँव में मैं अपने कलुपुकुर तालाब के किनारे शौच जाया करती थी । बार बार जाने में कष्ट होता था, अतः वहीं पर लेटी रहती । एक दिन तालाब के पानी में मैंने अपना शरीर देखा – केवल हाड़ हाड़ ही दिखा, देह में और कुछ भी नहीं बचा था । तब मैंने सोचा, 'छी ! छी ! यही तो देह है, तो फिर इसकी जरूरत ही क्या है? शरीर यहीं रहे, इसे छोड़ दूँ ।' तभी निबी ने आकर कहा, 'ओ माँ ! तुम यहाँ क्यों पड़ी हो? चलो, घर चलो' – इतना कहकर वह मुझे घर ले आयी । अब तो तालाब के किनारे वह सब स्थान ही नहीं बचा है । हिस्सा लगाकर सबने बाँट-बूट लिया है ।"

रात के साढ़े दस बजे थे । थोड़ी देर बाद मैंने विदा ली ।

१ अगस्त, १९१८

आज दर्शन करने जाकर सुविधा हो जाने से माँ के साथ बहुत-सी बातें हुईं, परन्तु सारी बातें मठ के संन्यासी सन्तानों के विषय में ही हुई । सम्भवतः प्रेमानन्द स्वामीजी का देहत्याग हो जाने के कारण ही उनके मन बारम्बार सन्तानों की ह बात उदित हो रही थी, इसीलिए उन्हीं का प्रसंग उठाकर माँ ने कहा, "बच्चों न ठाकुर की परीक्षा लेने के बाद ही त्याग किया । वराहनगर मठ में जब वे लोग थ, तो अहा! निरंजन आदि सबने कितने ही दिन आधे पेट खाकर ही ध्यान-जप करते हुए समय बिताये थे । एक दिन सबने कहा, 'अच्छा, हम लोग जो ठाकुर के नाम पर सब छोड़-छाड़कर आये हैं, देखें कि उनका नाम लेकर पड़े रहने से वे खाने को देते हैं या नहीं । सुरेश बाबू के आने पर कुछ कहा नहीं जायेगा । भिक्षा आदि भी कोई करने नहीं जायेगा ।' इतना कहकर सब चादर ओढ़कर ध्यान में लग गये । पूरा दिन बीत गया, रात भी काफी हो गई, तभी सुनने में आया कि कोई दरवाजा खटखटा रहा है । पहले नरेन उठकर बोला, 'दरवाजा खोलकर

देख तो कौन है? पहले देख कि उसके हाथ में कुछ है या नहीं ।' अहा! खोलते ही देखा गया कि लाला बाबू के मन्दिर (गंगा के किनारे स्थित गोपाल भवन) से अच्छी अच्छी खाने की चीजें लेकर एक व्यक्ति आया हुआ है । यह देख ठाकुर की दया का आभास पाकर सभी परम आनन्दित हुए । तत्काल उठकर ठाकुर को भोगराग देने के बाद उस रात के ही समय सबने प्रसाद पाया । ऐसे ही और भी कितनी बार हुआ है । सींथी के वेणी पाल के घर से भी एक बार इसी प्रकार पूरियाँ आयी थीं । अब तो लड़के बड़े सुख से हैं । अहा! नरेन, बाबूराम आदि सब कितना कष्ट उठा गये हैं । इस समय के तुम्हारे महाराज – मेरे राखाल को भी कितने ही दिन भात का हण्डा माँजना पड़ा है । एक बार नरेन गया-काशी की ओर जाते समय दो दिन बिना खाये ही एक पेड़ के नीचे पड़ा था । थोड़ी देर बाद उसने सुना कि कोई उसे पुकार रहा है । फिर देखा कि एक व्यक्ति कुछ पूरियाँ, तरकारी, मिठाई और एक घड़ा ठण्डा जल लाकर उसने सामने रखते हुए कह रहा है, 'रामजी का प्रसाद लाया हूँ, ग्रहण कीजिए।' नरेन बोला, 'मेरे साथ तो तुम्हारा कोई परिचय नहीं है, तुमसे भूल हुई होगी – और किसी को देने के लिए कहा गया होगा ।' उस व्यक्ति ने विनती करते हुए कहा, 'नहीं महाराजजी, आपके लिए ही यह सब लाया हूँ । दोपहर को मैं सोया हुआ था, देखा कि सपने में कोई कह रहा है – जल्दी उठ, अमुक पेड़ के नीचे एक साधु हैं, उन्हें खाना दे आ । उसे स्वप्न समझकर मैं उठा नहीं और करवट बदलकर सो गया । तब वे मेरे शरीर को धक्का देते हुए बोले – मैं उठने को कहता हूँ और तू सो रहा है, जल्दी से जा । तब लगा कि यह मिथ्या स्वप्न नहीं है, रामजी ही हुकुम कर रहे हैं । इसीलिए यह सब लेकर दौड़ा आया हूँ ।' तब नरेन ने इसे ठाकुर की दया समझकर वह भोजन ग्रहण किया ।

"एक बार और ऐसा ही हुआ था । तीन दिनों तक पहाड़ में घूमते घूमते भूख से नरेन की मूर्छा जैसी हालत हो गयी थी । उसी समय एक मुसलमान फकीर ने उसे एक ककड़ी दी, उसी को खाकर उसके प्राण बचे ! अमेरिका से लौटकर नरेन (अल्मोड़ा की) एक सभा में एक किनारे उस मुसलमान को खड़ा देख वह उठा और उसका हाथ पकड़कर सभा के बीच में लाकर बैठा दिया । सबने कहा, 'यह क्या?' नरेन बोला, 'यह मेरा प्राणदाता है ।' यह कहकर उसने वह घटना सबको बतायी । उसे रुपये भी दिये थे । वह किसी भी हालत में लेने को तैयार न था, कहने लगा, 'मैंने ऐसा क्या किया है कि रुपये दे रहे हैं?' परन्तु नरेन भला कहाँ सुनने वाला था ! बलपूर्वक दे दिया ।

"अहा ! जिस बार नरेन ने मुझे मठ में ले जाकर पहली बार पूजा (दुर्गापूजा) करायी, उस बार पुजारी[२] को उसने मेरे हाथ से पचीस रुपये दक्षिणा दिलाये थे। कुल चौदह सौ रुपये खर्च किये थे। पूजा के दिन पूरा मठ लोगों से भर गया था। सभी बच्चे परिश्रम कर रहे थे। नरेन ने आकर कहा, 'माँ, मुझे बुखार ला दो !' हे भगवान ! कहते-न-कहते उसे कँपकँपी के साथ ज्वर हो गया। मैंने कहा, 'ओ माँ, यह क्या हुआ, अब क्या होगा?' नरेन बोला, 'माँ, चिन्ता की कोई बात नहीं। मैंने अपनी इच्छा से ज्वर इसलिए ले लिया कि लड़के प्राणपण से परिश्रम कर रहे हैं, तो भी कहीं कोई त्रुटि हो जाय और मैं उन पर नाराज होकर डाँटने लगूँ या कहीं दो थप्पड़ ही लगा बैठूँ। इससे उन्हें भी कष्ट होगा और मुझे भी तकलीफ होगी। इसीलिए सोचा कि जरूरत ही क्या है ! थोड़ी देर बुखार में ही पड़ा रहूँ।' बाद में कामकाज पूरा होते ही मैंने कहा, 'ओ नरेन, तो अब उठ जा।' नरेन बोला, 'हाँ माँ, यह देखो उठ गया।' यह कहकर वह पहले जैसा ही स्वस्थ होकर उठ बैठा !

"पूजा के समय वह अपनी माँ को भी मठ में ले आया था। वह बैंगन तोड़ रही थी, मिर्च तोड़ रही थी और इस बगीचे, उस बगीचे घूमती फिर रही थी। मन में थोड़ा अहंकार था कि मेरे नरेन ने यह सब किया है। नरेन ने तब आकर उससे कहा, 'अजी, तुम कर क्या रही हो? माँ के पास जाकर बैठो न – बैंगन, मिर्च तोड़ती फिर रही हो। शायद सोच रही हो कि तुम्हारे नरू ने यह सब किया है। परन्तु ऐसी बात नहीं है, जिन्हें करना था, उन्होंने ही किया है। नरेन कुछ भी नहीं है।' अर्थात ठाकुर ने ही सब किया है। अहा ! मेरा बाबूराम नहीं है, कौन इस बार पूजा करेगा?" ❑ (क्रमशः) ❑

२. उस बार कृष्णलाल महाराज पुजारी और शशी महाराज के पिता तंत्रधारक थे। कृष्णलाल महाराज के पूजा करने पर भी तंत्रधारक को ही सारी व्यवस्था करनी पड़ती है, अतः कार्यतः वे ही पुजारी थे। पुजारी कहने से माँ का तात्पर्य उन्हीं से है।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

शैलेन्द्रनाथ बसु

(स्वामी विवेकानन्द के सम्पर्क में आये अनेक लोगों ने उनके विषय में अपने संस्मरण लिपिबद्ध किये हैं, जिनमें से कुछ अंग्रेजी में हैं और कुछ बँगला भाषा में । इन लेखों के पठन से हमें भी मानो स्वामीजी के साथ अन्तरंग सान्निध्य का अनुभव होता है । 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक बँगला ग्रंथ एक ऐसा ही संग्रह है । वहीं से दो बँगला लेखों का अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के इस अंक में प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

आलमबाजार मठ । जनमाष्टमी का दिन । स्वामीजी परेशान होकर गुडविन को ढूँढ़ रहे हैं । गुडविन बड़े रसिक थे । थोड़ी थोड़ी बँगला समझते थे । स्वामीजी से कद में छोटे थे । दाढ़ी-मूछें सफाचट । आयु चालीस के लगभग प्रतीत होती थी । कोट-पैण्ट पहनते थे । सिर पर बाल थे । गुडविन आकर स्वामीजी के समक्ष गरुड़ पक्षी के समान घुटने टेके हाथ जोड़कर बैठ गये । "तूने क्या उपवास किया है? किसने करने को कहा? तुम लोग बड़ा तंग करते हो ! इतना सब भला कैसे सहन होगा?"

एक बार गुडविन को पेट की बीमारी हुई । स्वामीजी ने कहा, "केवल दूध और सोडावाटर – और कुछ मत खाना ।" अन्य साधुओं को बुलाकर बोले, "इन लोगों को क्या हो रहा है या नहीं हो रहा है, तुम लोग जरा भी ध्यान नहीं रखते ! विदेश से आया है, इसे बड़ी सावधानी के साथ रखना ।"

बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू का उद्यान-भवन । एक बार दिन के समय स्वामीजी बाघछाल पहने, पूरे शरीर में भस्म, कानों में कुण्डल, सिर पर जटा लगाये और हाथ में तानपूरा लेकर थोड़ी देर भजन गाने के बाद – **सर्वधर्मान् परित्यज्य** – श्लोक की सुरसहित आवृत्ति करने लगे । राखाल महाराज भी शिव के रूप में सजे चुपचाप बैठे हुए थे ।

मेरे पिताजी खूब चाहते थे कि मैं उनके तथा उन लोगों के साथ मेलजोल रखूँ । पिताजी ने परमहंसदेव का भी दर्शन किया था । मैंने बेलुड़ मठ में स्वामीजी का संग किया है । बगीचा खोदना, गो-बछड़ों की सेवा करना तथा तरह-तरह के आदेशों का पालन – सब बड़े आनन्द के साथ किया है । उनके साथ रहने से खूब उत्साह मिलता था । स्वामीजी को मैंने कभी सामान्य व्यक्ति नहीं समझा । धर्म-कर्म समझने की क्षमता तब मुझमें न थी । अब ऐसा लगता है कि अत्यन्त छोटा व्यक्ति भी उनके आश्रय में बहुत बड़ा हो जाता था ।

एक बार स्वामीजी बलराम बाबू के मकान में थे। घर के भीतर कोई महिला न थीं। रात को उन्हें भोजन करना था। मुझे सामने देखकर वे बोले, "तू चुनी बाबू के घर से मेरा खाना ला सकता है क्या?" तदनुसार मैं चुनी बाबू की गृहिणी से रोटी-तरकारी ले आया। उनके सामने थाली रखकर ऊपर का कटोरा हटाते समय एक रोटी फर्श पर गिर पड़ी। इसके साथ ही उन्होंने एक संस्कृत श्लोक का उच्चारण किया, जिसका अर्थ है – "जाने दो, जाने दो, धरित्री का अंश धरित्री को गया।" एक बार मेरी माताजी ने मनमोहन तला से देशी पावरोटी लाकर उसे सेंककर उनके लिए दिया। नमकीन चीजें स्वामीजी को पसन्द थीं।

बागबाजार में गिरीश का मकान। स्वामीजी तथा राखाल महाराज दोनों ही वहाँ उपस्थित थे। उसी मुहल्ले के स्वामीजी के शिष्य शरत् सरकार से राखाल महाराज बोले, "स्वामीजी के पाँव दबा दो।" मैं भी उनके पाँव दबाना चाहता था। स्वामीजी ने कहा, "दोनों एक-एक दबा दो।" स्वामीजी के पाँव का तलवा arched (धनुषाकार) था। उस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए वे बोले, "इससे शरीर का भार अधिक आसानी से धारण किया जा सकता है।" कोई एक कीमती अँगूठी लाया। बोले, "वाह, वाह, बड़ा अच्छा है।" एक बार पहना। किसी ने कहा, "लगता है आपको बड़ी साध थी।" कोई उत्तर नहीं, मौन रहे।

बलराम-भवन के हॉल में एक बार परमहंसदेव को समाधि अवस्था में देखा था। उनके ज्योतिर्मय मुखमण्डल की शोभा भुलाई नहीं जा सकती। उनके नेत्र खुले हुए थे, एक आँख पर मक्खी बैठी थी, पर बाहर का बिल्कुल भी होश न था। और एक अन्य समय मैंने वहीं पर देखा कि वे वहाँ समवेत सभी भक्तों के चरण स्पर्श करते हुए प्रणाम कर रहे हैं। अद्भुत आचरण था उनका!

बागबाजार में श्री माँ के किराये के मकान में स्वामीजी बैठे हुए थे। एक वृद्ध सज्जन ने उनसे पूछा, "कैसे समझूँगा कि आप लोग त्यागी हैं?" स्वामीजी उठ खड़े हुए। पाँव से तकिये को धकेलकर दिखाया, "देख लीजिए, रुपये-पैसे हैं या नहीं! हम लोग ताला-चाभी नहीं लगाते। घर के भीतर जाकर देख आइए। सहज भाव से जाइए, हमारे यहाँ भीतर जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।"

बलराम बाबू के ही मकान में एक दिन एक व्यक्ति ने पूछा, "कुछ कार्य करते हुए ऐसा लगा कि यह कार्य करना उचित नहीं, फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा; परन्तु वैसा कर नहीं सका। सहसा वही कार्य कर बैठा। ऐसा क्यों होता है?" स्वामीजी ने कहा, तुमने रेल का ईंजन तो देखा है न! उसके एक पुर्जे को थोड़ा-सा दबाने से ही वह चल पड़ता है और उसे उल्टा दबाते ही तुरन्त रुक जाता है,

परन्तु गाड़ी खड़ी नहीं हो जाती । गाड़ी अपने वेग से चलती रहती है । फिर ब्रेक दबाने पर थोड़ा-सा चलकर धीरे-धीरे ठहर जाती है । हमारे जन्म-जन्मान्तर के संस्कार भी हमें इसी प्रकार खींचते रहते हैं । नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा – ऐसा ही कहते रहिए । तब गाड़ी ठहर जाएगी । फिर आपके मन में वह विचार ही नहीं उठेगा ।"

उस समय स्वामीजी की प्रसिद्धि पूरे विश्व में फैल चुकी थी, परन्तु वे एक छोटे-से बच्चे से भी सीखने को प्रस्तुत थे । बकरी बीमार थी । स्वामीजी चिन्तित थे कि उसके बच्चे को दूध कैसे पिलाया जाय । एक बालक ने उन्हें युक्ति बतायी कि कपास की लम्बी बत्ती को दूध में भिगाकर उसके मुख में रख दिया जाय । स्वामीजी ने उसकी प्रशंसा की और बोले, "तू ठीक कहता है । इसी से होगा । तू कर सकेगा । बैठकर पिला ।"

बागबाजार के बलराम-भवन में कुछ लोगों के साथ 'सोऽहंवाद' का प्रसंग चल रहा था । सब लोग उठ चुके थे । मैं भी उठ रहा था । (अँगुली दिखाते हुए) मुझसे बोले, "तू – वही है ।"

एक बार मृत्यु पर चर्चा हो रही थी । वे मुझसे बोले, "तू प्रतिदिन मर रहा है, क्या समझ नहीं पाता?" मैंने कहा, "नहीं ।" वे बोले, "कभी तू माँ की गोद में पाँच वर्ष का एक बच्चा था, अब भी क्या वही है? शरीर के तन्तुओं का निरन्तर क्षय तथा परिवर्तन हो रहा है । समझा?"

अन्तिम समय में एक दिन बागबाजार के सरकार बाड़ी लेन के घाट पर वे एक व्यक्ति का कन्धा पकड़कर नाव से उतरते हुए कह रहे थे, "कितने पहाड़-पर्वत सब घूम आया और आज यह हालत है ।"

शिवरात्रि का दिन । बेलुड़ मठ । स्वामीजी शिव को प्रणाम करने आकर ध्यान में मग्न हो गये । बाह्यसंज्ञा लुप्त हो गयी । शरत् महाराज बोले, "पकड़ो, पकड़ो, कहीं गिर न जायँ!" दूसरों के पकड़ने पर भी शरत् महाराज स्वयं उठकर आये और उन्हें दृढ़तापूर्वक पकड़कर बोले, "उस तरह पकड़ने से नहीं होगा ।"

एक दिन उन्होंने कहा था, "तुझे क्या चाहिए?" मैंने उत्तर दिया, "भीतर जो है, वह प्रस्फुटित हो, यही आशीर्वाद दीजिए ।" उन्होंने मेरे मस्तक तथा पीठ पर अपने करकमल फेर दिये ।

बागबाजार में नन्द बोस के मकान में पश्चिम से लौटे स्वामीजी का अभिनन्दन हो रहा था । सुप्रसिद्ध अभिनेता अमृतलाल वसु ने उनके गले में माला पहनायी ।

मुस्कान बिखेरते हुए स्वामीजी बोले, "ये रहे दादा!" अमृतलाल ने कहा, "मैंने सोचा था कि तुम शायद हम लोगों को भूल गये ।" स्वामीजी – "कहते क्या हैं आप!"

बौद्ध साहित्य में तथागत के शारीरिक लक्षणों का वर्णन है । उनमें से सभी का सत्यापन हुआ है या नहीं, पता नहीं । सीने पर बालों की प्रचुरता सम्भवत: हृदयवत्ता का सूचक है, परन्तु आचार्यदेव का प्राय: लोमविहीन वक्षःस्थल इसके विपरीत उदाहरण है । तथापि उनकी हृदयवत्ता तो बुद्ध के ही समान थी ।

१८९७ ई० का सम्भवत: फरवरी महीना । रात के लगभग नौ बजे थे । बलराम-मन्दिर के हॉल में दरी बिछी हुई थी । एक डेस्क पर रखकर वे कुछ लिख रहे थे । नीचे अनेक कागज-पत्र रखे हुए थे । वे उसी में इतने तन्मय थे कि मेरे प्रणाम करने पर उनका ध्यान बिल्कुल भी आकृष्ट नहीं हुआ । मैंने कुछ कहा नहीं, बस टकटकी लगाकर उनके चेहरे की ओर देखता रहा । उनके दोनों नेत्र देखकर तृप्ति नहीं हो रही थी । चार नेत्र होते तो शायद थोड़ी तृप्ति मिलती । उनका शारीरिक सौन्दर्य अनुपम था । मस्तक मुण्डित था और वे गेरुआ लबादा धारण किये हुए थे । शान्तिराम बाबू उनके लिये खाना ले आये और कागज-पत्र को उतारकर उसी डेस्क पर रख दिया । उन्होंने मुझसे भी कहा, "तुम्हारा भोजन लग गया है, चलो ।" स्वामीजी हँसे, पर कुछ बोले नहीं ।

एक अन्य दिन । बलराम भवन के भीतर का बरामदा । बेंच के ऊपर स्वामीजी, राखाल महाराज, गंगाधर महाराज, लाटू महाराज आदि बैठे हैं । गंगाधर महाराज खूब हँस रहे हैं और जोर की आवाज में बातें कर रहे हैं । उसी समय स्वामी त्रिगुणातीतानन्द आ पहुँचे । (बलराम बाबू के पुत्र) रामकृष्ण बाबू ने उन्हें मेरा परिचय दिया । सुनकर त्रिगुणातीत स्वामी बोले, "ये सब तो यहाँ आ पहुँचे हैं, ये जीवन्मुक्त हैं ।" स्वामीजी ने मुझसे कहा, "इनको पहचानते हो न?" मैंने कहा, "जी नहीं ।" स्वामीजी ने कहा, "इनका नाम है सारदा महाराज । महाकर्मी हैं, उद्बोधन का सारा भार इन्हीं के सिर पर है ।"

दक्षिणेश्वर । भक्तों की दृष्टि में कलि का वैकुण्ठ । १८९८ ई. में ठाकुर का जन्म-महोत्सव । पंचवटी के चबूतरे पर पेड़ के सहारे ठाकुर का पट सजाया गया है । स्वामीजी चबूतरे के ऊपर ही बैठे हैं । उनके निकट तथा चारों तरफ अनेक संन्यासी तथा गृही भक्त बैठे हुए हैं । गिरीश बाबू तथा राखाल महाराज भी हैं । हैरिसन साहब आये । उनकी आयु ४० वर्ष के लगभग होगी । स्वामीजी को प्रणाम करके वे बोले, "मन्दिर में चारों ओर मुझे घुमाकर दिखा सके, ऐसा कोई

गाइड मिल सकेगा क्या ?'' स्वामीजी चारों ओर भक्तवृन्द की ओर देखकर बोले, ''तुम लोगों में से कोई जायेगा क्या ?'' परन्तु कोई भी उन्हें छोड़कर जाने को तैयार नहीं हुआ। मैं अग्रसर होकर बोला, ''महाराज, मैं क्या साहब को ले जा सकता हूँ?'' इस पर वे खूब आनन्द व्यक्त करते हुए बोले, ''ले जा सकोगे ?'' मेरे ''जी, हाँ'' – कहने पर वे बोले, ''अवश्य ले जाओगे। I want such bold young men (मैं ऐसे साहसी युवक ही चाहता हूँ)।'' फिर हैरिसन से बोले, "This young man will be your guide (यह युवक तुम्हारा गाइड होगा)।'' इसके बाद मैंने उन्हें घुमाकर सब दिखाया। बातों बातों में मैंने हैरिसन से कहा, ''स्वामीजी में मानो मरे हुए आदमी को बचाने की शक्ति है। यही देखिए न, अनजाने ही उन्होंने मेरे जैसे एक लजीले छोकरे को आपका पथप्रदर्शक बना दिया।'' इस पर वे बोले, ''तुम लोग उनका बाहरी रूप देखकर ही मुग्ध हो। भीतर का अभी तक देख नहीं सके हो। हम लोगों ने अमेरिका में देखा है कि इस देश के निर्धनों के लिए उनमें कैसी संवेदना है !'' लौटकर साहब ने स्वामीजी से कहा, ''मैं सब देखकर बड़ा प्रसन्न हूँ। और इसने मुझे सब समझा दिया है।'' तब स्वामीजी ने मेरी पीठ पर धौल जमाकर स्नेह व्यक्त किया।

पन्द्रह-सोलह साल का एक बालक। खूब अच्छा स्वास्थ्य था उसका। बलराम बाबू के घर स्वामीजी का दर्शन करने आया था। दुमंजले के भीतरी बरामदे में एक लम्बे बेंच पर स्वामीजी बैठे हुए थे। लड़के के वस्त्र खूब स्वच्छ थे। प्रणाम करके उसके फर्श पर बैठते ही बोले, ''कपड़ों को गन्दा करते हो ! ऊपर उठकर बैठो न ! जानते नहीं – cleanliness is next to godliness (अर्थात् ईश्वर-परायणता के बाद ही स्वच्छता का स्थान है)।''

सतीशचन्द्र रायचौधरी

अमेरिका से लौटने के कुछ काल बाद ही स्वामीजी का ढाका में शुभ पदार्पण हुआ। उन दिनों मैं वहीं कॉलेज का छात्र था। स्वामीजी के ढाका आगमन के दूरगामी फल को समझने के लिए वहाँ के तत्कालीन धर्मजीवन की थोड़ी-सी जानकारी आवश्यक है। कोई कोई महापुरुष पहले से चले आ रहे अनुकूल परिवेश के बीच आत्मप्रकाश करते हैं, और कोई कोई अपने साधनालब्ध ज्ञान के प्रसार से परिवेश में अद्भुत परिवर्तन लाकर मेघमुक्त सूर्य के समान प्रतिभात होते हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

ढाका नगरी कभी पूरे बंगाल की राजधानी थी, उस समय कलकत्ता नगरी का जन्म भी नहीं हुआ था। ढाका एक वैष्णवप्रधान क्षेत्र के रूप में सुविख्यात था।

वहाँ के जनमाष्टमी, झूलन आदि उत्सवों के साथ जो लोग परिचित हैं, वे इस तथ्य की सहज ही उपलब्धि कर सकेंगे। भारत के अन्य किसी ऐसे स्थान के विषय में मैं नहीं जानता, जहाँ श्रीकृष्ण की पूजा-अर्चना इतने सार्वजनिक रूप से तथा लोकशिक्षा के माध्यम से सम्पन्न होती हो। हमारे काल में अर्थात् पिछली शताब्दी के अन्तिम भाग में दो अन्य आन्दोलनों ने ढाका के नागरिक जीवन को पुष्ट तथा समृद्ध किया था। इनमें से एक था ब्राह्मसमाज का आन्दोलन, दूसरा था प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी के ढाका नगर के गेण्डारिया साधना-केन्द्र से निःस्रित भक्तिभाव और इसके साथ ही निकट ही नारायणगंज के पास स्थित बारदी के विख्यात ब्रह्मचारी महाराज के साधनाक्षेत्र से प्रचारित होनेवाला ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का भाव। अद्वितीय वक्ता तथा साधक स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन ने भी ढाका जाकर, वहाँ के शिक्षित समाज में प्रबल रूप से ब्राह्म-आन्दोलन की सृष्टि की थी। इस कारण ढाका नगर का आध्यात्मिक परिवेश तथा मनोवृत्ति दिग्विजयी स्वामीजी का स्वागत करने को तैयार थी। ढाका का छात्रवर्ग वहाँ के समाज का एक अन्य प्रभावशाली अंश था। वे लोग तभी से स्वदेशी के भाव में पगे हुए थे और भारत तथा बंगाल में जो कुछ भी गौरवपूर्ण था, उसके साथ एकात्मता का बोध करते थे। जिन परिस्थितियों तथा परिवेश के बीच बाद में बंगभंग आन्दोलन के समय स्वदेशी भाव धूमायित हो उठा था, उन्हीं के बीच स्वामीजी के पूत शुभागमन तथा ज्वालामय भाषणों की जो तत्काल तथा दूरगामी प्रतिक्रिया हुई, वही बताना यहाँ मेरा उद्देश्य है।

अमेरिका में स्वामीजी के व्याख्यान तथा सफलता का संवाद पहले ही ढाका के सभी श्रेणी के लोगों के बीच फैल चुका था, इसलिए सभी आग्रहपूर्वक उनके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन दिनों ढाका के हमारे कॉलेज में सुविख्यात अंग्रेज तथा बंगाली प्राध्यापकगण पढ़ाया करते थे।

नगर के केन्द्र में स्थित जगन्नाथ कॉलेज के विराट् प्रांगण में स्वामीजी का अभिनन्दन करने का निर्णय लिया गया। स्वामीजी एक धार्मिक वक्ता के रूप में सुपरिचित थे, अत: बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारियों को भी उनका भाषण सुनने जाने में कोई बाधा न थी। कॉलेज के प्रांगण में जनसमुद्र उमड़ पड़ा। देखते ही देखते हम छात्रगण भी मुख्यत: स्वामीजी का अंग्रेजी भाषण सुनने को ही एकत्र हो गये। भाषा के पीछे जो एक असाधारण शक्ति हुआ करती है, इसका हमने तभी पहली बार अनुभव किया था।

सौम्य, शान्त, सुगठित, गैरिकधारी तथा पगड़ी-विभूषित स्वामीजी के मंच पर खड़े होते ही, उनके समुज्ज्वल प्रतिभा की दीप्ति चारों ओर फैल गयी। उनके नेत्रों से निकलनेवाली सहज तथापि मर्मस्पर्शी ज्योति ने क्षण भर में ही उस विशाल जनसमुदाय को मुग्ध कर लिया। मैंने गैरिकधारी अनेक संन्यासी देखे हैं, परन्तु गैरिक-वस्त्र को गौरवान्वित तथा मनोहारी बनानेवाला दैवी-प्रतिभा से मण्डित ऐसा कोई अन्य व्यक्तित्व मेरी दृष्टि में नहीं आया। स्वामीजी ने भाषण देना आरम्भ किया। उन्होंने अपने अमेरिकी व्याख्यानों में वेदान्त-दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए सर्वधर्मों के समन्वय का सन्देश दिया था, जिसने पाश्चात्य लोगों के हृदय में एक अभिनव सुर झंकृत किया था। ईसाई पादरियों को भी उनके भाषणों में ईसा के सन्देश की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी थी।

परन्तु स्वामीजी के ढाका-सम्भाषण में मुझे एक अलग ही सुर सुनाई दिया – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – तुम लोग अमृतत्व के अधिकारी हो, स्वयं को पहचान लो। पृथ्वी पर किसी में भी तुम्हारी उन्नति में बाधा डालने की क्षमता नहीं है। साम्राज्य की दासता से मुक्त होकर तुम्हीं लोग जगत् के गुरु तथा शिक्षक बनोगे। तुम्हें बस आत्मविश्वास की आवश्यकता है। आध्यात्मिक विचारों के जगत में भारत कभी शीर्षस्थान पर था। मैं प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ कि तुम्हारा भविष्य और भी गौरवशाली तथा महान होगा।

युवकों के प्रति स्वामीजी का विशेष आह्वान था – जागो, उठो, आलस्य तथा निर्जीवता को उठाकर फेंक डालो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। आगे बढ़ो। चरैवेति चरैवेति।

क्या ही आह्वान था वह! क्या ही तूर्य-निनाद था वह! ढाकावासी बड़े समारोहपूर्वक जन्माष्टमी का पर्व मनाया करते हैं, पर इसके पूर्व कभी श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य की शंखध्वनि उनके कानों में नहीं पड़ी थी। आज उन्हें वही गुरु-गम्भीर ध्वनि सुनाई पड़ी – जनता ने मंत्रमुग्ध होकर वह व्याख्यान सुना। इतनी तन्मयता के साथ सुना कि उसके सारांश के अतिरिक्त अन्य सब कुछ उनकी स्मृति से लुप्त हो गया। उनके अवचेतन मन में केवल एक विराट् सर्वात्मक चेतना ही रह गयी। चारों ओर तरह तरह से उसी की चर्चा चल पड़ी। शिक्षकवर्ग ने भी इतना सहज, सुन्दर तथापि मर्मस्पर्शी अंग्रेजी व्याख्यान पहले कभी नहीं सुना था। स्वामीजी के व्याख्यान की भाषा बाइबिल की अंग्रजी से भी सरल तथा स्वाभाविक थी। और राजनीति में रुचि लेनेवालों ने कहा कि स्वामीजी एक प्रच्छन्न राजनीतिक नेता हैं और शीघ्र ही वे समकालीन राजनीति

के क्षेत्र में अधिकार जमा लेंगे । युवकों के चित्त में उस भाषण ने एक दूरगामी भाव-तरंग उत्पन्न की और उनमें जनसेवा के लिए आत्मोत्सर्ग का भाव जगा दिया। सबको स्वीकार करना होगा कि परवर्ती काल में बंगभंग आन्दोलन के समय इसी की प्रतिध्वनि तथा प्रेरणा स्वदेशी भाव के रूप में व्याप्त हो गयी थी । ढाका के जनमानस पर उनके इस साहसपूर्ण आह्वान की बड़ी व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी । अहिंसावाद के वे अन्धभक्त न थे । एक दिन प्रश्न उठा, कौन-सा खेल उत्तम है उन्होंने उत्तर दिया था, फुटबाल का खेल, जिसमें पदाघात के बदले पदाघात किया जाता है । उन्हीं दिनों किसी दाम्भिक अंग्रेज ने लात मारकर एक कुली की प्लीहा फाड़ दी थी । ऐसे महापुरुष को आदर्श बनानेवालों के द्वारा ही स्वाधीनता का सैन्यदल निर्मित हुआ था । ❑

श्रीरामकृष्ण के शिष्यों की पुण्य-स्मृतियाँ

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के सहाध्यक्ष श्रीमत स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने रविवार, १८ नवम्बर १९९५ को बेलूड़ मठ में संन्यासियों के लिए आयोजित साधना-शिविर में अपने कुछ पुराने संस्मरण सुनाए थे, जिसका अनुलिखन मद्रास से निकलनेवाली हमारी आंग्ल मासिक पत्रिका 'वेदान्त केसरी' के जनवरी '९८ के अंक में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत है वहीं से उसका प्रामाणिक अनुवाद। – सं०)

भाइयो ! आज हम अपने अध्यक्ष महाराज तथा उनके सन्देश का अभाव महसूस कर रहे हैं। तथापि श्रीरामकृष्ण के जिन शिष्यों से मिलने, बातें करने तथा प्रेरणा ग्रहण करने का सौभाग्य मुझे मिला है; उन्हीं का स्मरण करके हम इस अभाव की थोड़ी भरपाई करने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम तो मुझे रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी महाराज का स्मरण आता है, जिन्हें प्रेम से महापुरुष महाराज कहा जाता है। उन दिनों मैं केरल प्रान्त के त्रिचुर नगर से दस किलोमीटर दूर स्थित त्रिक्कुर नामक एक गाँव में रहा करता था। त्रिक्कुर में मेरा घर मनाली नदी के तट स्थित था और मेरे घर की पूर्व दिशा में लगभग आधे किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर शंकरजी का एक प्राचीन गुहा-मन्दिर है। त्रिक्कुर से त्रिचुर जाने के मार्ग पर पाँच किलोमीटर दूर स्थित ओलूर ग्राम में एक हाई स्कूल है। उन दिनों मैं इसी विद्यालय में आठवें दर्जे का छात्र था। एक दिन मेरा एक सहपाठी त्रिचुर के विवेकोदयम हाई स्कूल के ग्रन्थालय से एक पुस्तक ले आया था। उसने मुझसे पूछा, "क्या तुम यह पुस्तक पढ़ना पसन्द करोगे ?" कौन-सी पुस्तक है, यह जाने बिना ही मैंने उत्तर दिया, "हाँ, हाँ, अवश्य पढ़ना चाहूँगा।" वह मद्रास-मठ द्वारा प्रकाशित श्री 'म' लिखित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक पुस्तक थी। उसने मुझे पुस्तक दे दी और मैं उसे पढ़ने लगा। इस ग्रन्थ ने मेरे मन को अभिभूत कर दिया और एक ही बैठक में मैंने लगातार उसके लगभग सौ पृष्ठ पढ़ डाले, बाद में मैंने उसे पूरा पढ़ लिया। इसके बाद त्रिचुर के उस ग्रन्थालय से श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी की और भी अनेक पुस्तकें आयीं।

वह १९२४ ई० का वर्ष था। उस समय मेरी आयु केवल साढ़े पन्द्रह साल थी और मैं रामकृष्ण संघ में प्रवेश लेने को अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। १९२६ ई० में मैंने अपने स्कूल की फाइनल परीक्षा पास करने के बाद शार्टहैण्ड तथा टाइपिंग

सीखने के लिए त्रिचुर के एक टाइपिंग इंस्टीच्यूट में दाखला लिया। उसके लिए कुछ मासिक शुल्क भी लगता था। अतः मैंने घर से तीन रुपये लिए और त्रिचुर चला आया। वहाँ से मैंने मद्रास के मठ को लिखा कि मैं रामकृष्ण मिशन में प्रवेश लेना चाहता हूँ। एक ब्रह्मचारी का उत्तर आया, "यहाँ पर रहने की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। मैसूर में एक नया केन्द्र बना है और वहाँ एक ब्रह्मचारी की आवश्यकता है। अतः इस विषय में आप कृपया वहाँ के मठाधीश स्वामी सिद्धेश्वरानन्द जी को लिखें।"

मैंने मैसूर आश्रम के प्रमुख स्वामी सिद्धेश्वरानन्द जी को पत्र लिखा। परन्तु इसी दौरान वे स्वयं ही अपने माता-पिता से मिलने त्रिचुर पधारे। उनके पिता कोचीन राज्य के द्वितीय राजकुमार थे। मैं महाराज से मिला। वे बोले, "ठीक है, तुम आ सकते हो। क्या तुम्हारे पास ऊटी होते हुए मैसूर आने के लिए पर्याप्त पैसे हैं ?" मैं बोला, "केवल तीन रुपये छोड़ मेरे पास और कुछ भी नहीं है।" परन्तु मेरे कानों में बालियाँ भी थीं, क्योंकि उन दिनों केरल में लड़के भी बालियाँ पहना करते थे। मैं उन्हें बाजार में बेच सकता था, परन्तु वह रविवार का दिन था और सारी दुकानें बन्द थीं। एक व्यक्ति ने मुझे दो रुपये दिये और सिद्धेश्वरानन्द जी ने भी दो रुपये दिये। इस प्रकार अब मेरी जेब में कुल सात रुपये थे। परन्तु ऊटी होकर मैसूर की मेरी यात्रा के लिए वह यथेष्ठ न था। प्रश्न यह था कि कैसे मैं उसी दिन सिद्धेश्वरानन्द जी के साथ रात साढ़े आठ बजे की गाड़ी से ऊटी जाऊँ ? मेरे मन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। जाने की मेरी इच्छा तो बड़ी तीव्र थी, परन्तु संकल्प पूरी तौर से दृढ़ नहीं हुआ था। मेरे मन में ऐसा ही संघर्ष चल रहा था। और उस समय मैं काफी छोटा भी था, कुल साढ़े सत्रह साल की आयु थी। मैं ठाकुर से कृपा के लिए प्रार्थना करने के लिए त्रिचुर के विवेकोदयम हाई स्कूल के मन्दिर में गया। उस मन्दिर में पूजा हेतु मैं प्रायः ही अपने घर से फूल लाया करता था। आँखों में आँसू भरकर मैंने ठाकुर से प्रार्थना की कि वे मेरे त्याग तथा सिद्धेश्वरानन्द जी के साथ मैसूर जाने का मार्ग प्रशस्त कर दें। आज सत्तर वर्षों बाद भी उस मन्दिर की यह घटना मुझे अभिभूत कर देती है।

इसके बाद, अन्तिम क्षण मैं सिद्धेश्वरानन्द जी के घर गया। वे रेल्वे स्टेशन जाने के लिए तैयार हो चुके थे। वे बोले, "ठीक है, आज रात साढ़े आठ बजे की गाड़ी से मेरे साथ ऊटी चलो।" दीक्षा आदि के बारे में मुझे कुछ भी मालूम न था। मैंने श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के बारे में कुछ पुस्तकें पढ़ रखी थीं, मुझे माँ श्रीसारदा देवी विषयक 'प्रकृतिं परमाम्' स्तोत्र कण्ठस्थ था और मैं मिशन में प्रवेश लेना

चाहता था। मिशन में अपना जीवनदान करने को मेरे लिए इतना ही काफी था। अतः साढ़े आठ बजे की गाड़ी में बैठकर सबेरे हम लोग ऊटी पहुँचे। इस टोली में गोपाल महाराज के नाम से सुपरिचित सिद्धेश्वरानन्द जी, मैं तथा तीन छात्र भी थे।

ऊटी समुद्र की सतह से लगभग सात हजार फीट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। महापुरुष महाराज उन दिनों ऊटी में एक किराये के मकान में निवास कर रहे थे और वह मकान उन्हें अत्यन्त प्रिय था। वर्तमान ऊटी आश्रम उस समय निकट के ही एक भूखण्ड पर निर्माणाधीन था और १९२७ ई० में उसका उद्‌घाटन होने वाला था। मुझे महापुरुष महाराज के ही भवन में ठहरने तथा जलपान करने की अनुमति मिली, परन्तु भोजन बाहर के एक होटल में करना था। उस समय आश्रम में इतने लोगों को भोजन कराने की व्यवस्था नहीं थी। इसलिए अपने पास के पैसे से मैं बाहर खाने लगा। एक सप्ताह बीतते बीतते मेरे पास के पैसे खत्म होने को आ गये। २५ जून, १९२६ को मैं त्रिचुर से निकला था और ३० जून को ऊटी में मुझे महापुरुष जी से दीक्षा मिली।

उस दिन की घटना इस प्रकार है। महापुरुष महाराज जिस कमरे में दीक्षा देने को बैठे हुए थे, मैंने उसमें प्रवेश किया। उनकी बायीं ओर मेरे लिए भी एक आसन लगा हुआ था। उसी पर बैठकर मैंने अपने आसपास के परिदृश्य का जायजा लिया। तभी मुझे तीन-चार वर्ष पूर्व देखे हुए अपने एक स्वप्न की याद हो आयी। अपने गाँव के गुहा-मन्दिर में मैं नियमित रूप से शिवपूजा करने जाया करता था। उस स्वप्न में मैंने देखा था कि मुझे नभ-मार्ग से उठाकर एक अत्यन्त सुन्दर स्थान में पहुँचा दिया गया है। वहाँ एक पूजनीय वृद्ध व्यक्ति आसीन थे और मैंने उन्हें शिव के रूप में पहचान लिया। उन्होंने मुझे अपनी बायीं ओर बैठाकर साधना-विषयक कुछ निर्देश दिये थे। स्वप्न में मैंने बस इतना ही देखा था और उस दिन ऊटी के उस विशेष परिवेश के बीच मानो वही स्वप्न, ठीक उसी प्रकार दुहराया जा रहा था। महापुरुष महाराज ने मुझसे पूछा, "क्या तुम श्रीरामकृष्ण की पूजा करते हो ?" मैंने कहा, "नहीं, वैसे मैं उनकी पूजा तो नहीं करता, परन्तु मैंने उनका एक चित्र अपने पास रख लिया है और नियमित रूप से मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।" इस पर उन्होंने कहा, "ठीक है।" इसके बाद उन्होंने मुझे मन्त्र दिया और पूछा, "गुरुदक्षिणा के लिए कुछ लाये हो ?" मैं बोला, "कुछ भी नहीं।" मैं घर से केवल एक धोती, एक कुर्ता और एक तौलिया लेकर ही निकला था। उन्होंने अपनी बायीं ओर से दो-तीन आम उठाये

और मुझे देते हुए बोले, "अब इन्हें गुरुदक्षिणा के रूप में मुझे वापस दे दो।" मैंने वे आम उन्हें दिये और प्रणाम करके कमरे से बाहर निकल आया।

दो दिनों बाद, २ जुलाई के दिन हमें मैसूर के लिए प्रस्थान करने के लिए महापुरुष महाराज से विदा लेनी थी। सिद्धेश्वरानन्द जी और मैं उन्हें प्रणाम करने उनके कमरे में गये। सुबह के साढ़े पाँच बजे थे। वे एक कुर्सी पर बैठे कुछ रुपये गिन रहे थे। उन्होंने कहा, "गोपाल, तुम्हें कुछ रुपये चाहिए क्या ? चाहो तो दे सकता हूँ।" यद्यपि मैसूर का आश्रम उन दिनों आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था, तथापि उन्होंने कहा, "नहीं महाराज, कोई जरूरत नहीं है।" मैंने अपने गुरुदेव को प्रणाम किया। महापुरुष महाराज ने मुझसे कहा, "ठीक है, तुम मैसूर जाओ और गोपाल की सेवा करो।"

उस समय उन्होंने मुझे केवल इतना ही निर्देश दिया था, "गोपाल की सेवा करो।" और गोपाल महाराज की मेरी सेवा नौ साल तक मैसूर में तथा तीन साल तक बैंगलोर में जारी रही। वे अत्यन्त सज्जन, दयालु तथा स्नेही थे। १९३८ ई० में पेरिस में वेदान्त-केन्द्र की स्थापना के लिए उनके जाने पर ही हमारा यह सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ। अस्तु हम लोगों ने महापुरुष महाराज से विदा ली और सुबह सात बजे की बस से निकलकर रात के ९ बजे मैसूर आश्रम जा पहुँचे। बाद में मैंने खाते में देखा कि मेरी ऊटी-मैसूर यात्रा के खर्च के रूप में सात रुपये दर्ज किये गये थे।

जीवन में मैंने पहली बार बिजली की रोशनी आदि से युक्त एक बड़ा नगर देखा। गाँव के बालक के रूप में नागरी जीवन के विषय में मैं बिल्कुल ही अनभिज्ञ था। यहाँ तक कि पत्र डालना या चेक भुनाना आदि भी मैं नहीं जानता था। उस रात नौ बजे जीवन में पहली बार मुझे आश्रम में भिक्षान्न पर रहनेवाले एक छात्र के हाथों एक गिलास दूध तथा डबलरोटी के दो टुकड़े खाने को मिले। सत्तर वर्ष पूर्व दूध तथा डबल रोटी के रूप में प्राप्त हुए आश्रम के उस प्रथम भोजन का स्वाद मुझे अब भी याद है। वह २ जुलाई, १९२६ ई० का दिन था। ३ जुलाई को मेरे लम्बे केश काट दिये गये और मेरे कानों की बालियाँ उतार दी गयीं।

तदुपरान्त ४ जुलाई को मैंने आश्रम के रसोईघर में प्रवेश किया। आश्रम में अर्थाभाव के कारण रसोइये की कोई व्यवस्था न थी। अनुपयुक्त भोजन के कारण सिद्धेश्वरानन्द जी का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता था। बारह से चौदह वर्ष की आयु में ही अपने घर में पूरे परिवार के लिए दो वर्षों तक भोजन बनाने का अनुभव होने के

कारण मैं एक अच्छा रसोइया बन चुका था। इसलिए तभी से मैसूर आश्रम के सभी अन्तेवासियों को अच्छा भोजन मिलने लगा। आगामी छह वर्षों तक मैं ही मैसूर आश्रम का रसोइया, बर्तन माँजनेवाला तथा रख-रखाव करनेवाला बना रहा। बाद में मासिक चन्दा एकत्र करना, बगीचे में काम करना आदि भी मेरी दिनचर्या में जुड़ गये। लोगों से चन्दा माँगते समय मैं उन्हें स्वामी विवेकानन्द के बारे में बताया करता था। लोग इस पर बड़े प्रसन्न होते और मुझे चाय-नाश्ता कराते और कभी कभी अन्य आश्रमवासियों के लिए भी साथ ले जाने को कुछ दे देते। इस प्रकार अनेक कार्यों के बीच, ढ़ेर सारे अध्ययन के बीच मेरा जीवन बीतने लगा। कार्य के भारी उत्तरदायित्व के बावजूद मैंने कभी अध्ययन या साधना के लिए समयाभाव की शिकायत नहीं की। मैं सर्वदा हँसमुख तथा प्रसन्न रहता था और ठाकुर की सेवा में हर प्रकार का कार्य करने में आनन्द का अनुभव करता था। थकान का तो मैं नाम तक नहीं जानता था। विद्यार्थियों के साथ आश्रम के अखाड़े में मैं कुश्ती लड़ता और बाद में वालीबाल भी खेलने लगा।

१९२९ ई० में मेरी ब्रह्मचर्य-दीक्षा का समय आया। अतः उसी वर्ष मार्च में मैं बेलूड़ मठ गया। २३ मार्च को, बुद्ध-पूर्णिमा के दिन मेरी ब्रह्मचर्य-दीक्षा हुई। उस समय मैंने बेलूड़ मठ में लगभग चार माह बिताये थे। ब्रह्मचर्य-दीक्षा के दिन महापुरुष महाराज पुराने मन्दिर के पीछेवाले कमरे में आये और वहाँ हो रहे समारोह की ओर मुख करके बरामदे में बैठ गये। उनके चेहरे पर मुस्कुराहट खेल रही थी। हम ब्रह्मचारियों की संख्या पाँच या छह रही होगी। उन्होंने मुझे 'यतिचैतन्य' नाम दिया। मेरे बेलूड़ मठ के प्रवास का सर्वाधिक स्मरणीय जो अनुभव था, वह था प्रतिदिन प्रातःकाल नाश्ते के बाद हम लोगों का महापुरुष महाराज के कमरे में एकत्र होना, जो कभी कभी एक घण्टे से भी अधिक काल तक चला करता था। टोलियों के रूप में आकर संन्यासी तथा ब्रह्मचारी उन्हें प्रणाम करते और एक किनारे खड़े हो जाते। महाराज अपने बिस्तर या कुर्सी पर अन्तर्मुख होकर बैठे रहते, प्रायः उनके सामने एक हुक्का भी रहता, जिसमें से कभी कभी अन्यमनस्क भाव से वे एक-आध कश खींच लेते और उपस्थित साधु-ब्रह्मचारियों से बीच बीच में हाल-चाल पूछते। जब उनकी अन्तर्मुख अवस्था का किंचित् उपशम होता, तब वे उपस्थित अन्तेवासियों के साथ विभिन्न विषयों पर वार्तालाप करते और इसके बीच बीच में व्यंग-विनोद का भी पुट रहा करता। यह शैली श्रीरामकृष्ण के शिष्यों की एक खास विशेषता थी। कभी कभी चर्चा की दिशा गहन आध्यात्मिक विषयों की ओर मुड़

जाती और उस समय सभी लोग उनके मुख से निःसृत होनेवाले प्रत्येक शब्द को बड़ी एकाग्रता के साथ सुनते। इन सब के बीच, यदा-कदा उनके परम भक्तिपूर्ण तथा गम्भीर कण्ठ से – ''सच्चिदानन्द शिव'', ''जय गुरु महाराज'', ''जय माँ'' – की दिव्य वाणी उच्चरित हो उठती थी।

बेलूर मठ में सामने के बड़े आँगन में झाड़ू लगाना – मेरी वहाँ की दिनचर्या का एक अंग था। कभी कभी वहाँ झाड़ू लगाते समय हवा के झोकों से कचरा फिर बिखर जाता था और मुझे दुबारा झाड़ू लगाना पड़ता। परन्तु मुझे इससे कोई झल्लाहट नहीं होती थी, बल्कि यह मेरे लिए एक खेल के ही समान था। मैं ठाकुर की पूजा के बर्तन माँजता। फिर वर्तमान मन्दिर की बायीं ओर स्थित टी-स्टाल में जाकर अन्तेवासियों को चाय बाँटना भी मेरा एक अन्य काम था। और इसके अतिरिक्त महापुरुष महाराज के स्नान हेतु लिलुआ के नलकूप से सिर पर रखकर पानी लाना, उनके कुत्ते के लिए बेलूड़ बाजार से थोड़ा-सा दही लाना और भोजनालय में परिवेशन आदि कुछ अन्य कार्य भी करता था।

इस प्रकार मैं सब कुछ करने को तैयार रहा करता था। मेरी आयु काफी कम थी और मुझमें अथक ऊर्जा भरी हुई थी। अभी जहाँ पर भोजनालय स्थित है, उसी के पास एक अखाड़ा भी बना हुआ था। महापुरुष महाराज के सेवक स्वामी अपूर्वानन्द एक अच्छे पहलवान थे। मैं उस अखाड़े में उनके तथा दो-तीन अन्य लोगों के साथ कुश्ती लड़ चुका हूँ। हमारी कुश्ती देखने को अनेक लोग एकत्र हो जाते। वाराणसी के सेवाश्रम से एक रसोइया आया। वह एक अच्छा पहलवान भी था। वैसे वह देखने में तो साधारण-सा लगता था, परन्तु उसके अन्दर इतनी ताकत थी कि जब उसने मेरा हाथ पकड़ा, तो वह हाथ अवश हो गया।

मठ में उन दिनों स्वामीजी के शिष्य ज्ञान महाराज भी थे। आजकल उत्सवों के दौरान जहाँ पर मंच बनाया जाता है, वहीं पर उन्होंने 'पैरेलल बार' लगवा रखा था। वहाँ जाकर भी मैं थोड़ा अभ्यास कर लिया करता था। मेरे पास सब कुछ करने को समय था। मध्याह्न तथा रात के भोजन के बाद के समय को छोड़कर मैं प्रायः सारे समय भूख का अनुभव किया करता था। प्रातः जलपान के समय जरा-सा मक्खन लगा हुआ डबल रोटी का एक टुकड़ा और चाय दिया जाता था। फिर डबल रोटी का वह टुकड़ा भी मानो छुरी की धार के समान पतला हुआ करता था। और चाय की हालत तो यह थी कि सभी आश्रमवासियों को मिलाकर केवल एक गिलास ही

दूध की व्यवस्था थी और उसमें बहुत-सा जल तथा चीनी मिला दिया जाता था। तत्कालीन महासचिव स्वामी शुद्धानन्द जी, स्वामी विरजानन्द जी तथा अन्य वरिष्ठ संन्यासी भी वहाँ उपस्थित रहते थे और मैं उन सभी को चाय आदि वितरण करता था। अपनी भूख मिटाने के लिए मैं मठ के बरामदे में रखे एक बड़े टिन के डब्बे से अपने कुर्ते की छोर में मुरमुरे ले लेता और खूब खाता। अर्थाभाव के कारण मठ में भोजन की हालत बड़ी खराब थी। दाल में पानी की बहुतायत होती, परन्तु चच्चड़ी तथा आलू-दम बड़े स्वादिष्ट लगते थे।

इसी समय मैं मठ के अनेक वरिष्ठ संन्यासियों के सम्पर्क में आया। १९२९ ई० की मई में मठ की विभिन्न शाखाओं से बहुत से संन्यासी वहाँ एकत्र हुए थे। पुराने मठ-भवन की सीढ़ी से ऊपर चढ़ते ही दूसरी मंजिल की दीवाल पर जो एक ग्रुपफोटो लगा हुआ है, वह उसी समय मठ-भवन तथा गंगा के बीच के स्थान में लिया गया था। पूज्यपाद सुबोधानन्द जी, शुद्धानन्द जी, विरजानन्द जी, वीरेश्वरानन्द जी तथा और भी अनेक केन्द्रों के प्रमुख उस चित्र में उपस्थित है। उस चित्र में मैं भी हूँ। महापुरुष महाराज ऊपर के बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे, परन्तु फोटो लेने में विलम्ब हो रहा था, अतः वे उठकर अपने कमरे में चले गये। स्वामी विविदिषानन्द जी अमेरिका जा रहे थे, इस कारण यह मानो उनके लिए विदाई समारोह जैसा भी था।

बेलूड़ मठ में मैंने बड़े आनन्दपूर्वक चार महीने बिताये। तत्कालीन महासचिव स्वामी शुद्धानन्द जी कभी कभी मुझसे कहते, ''तुम कब तक यहाँ टिके रहोगे? तुम्हें अपने मैसूर के केन्द्र में लौट जाना चाहिए। बेलूड़ मठ इतने मेहमानों का खर्च वहन नहीं कर सकता।'' मैं उत्तर देता, ''मैं शीघ्र ही चला जाऊँगा, शीघ्र ही चला जाऊँगा।'' और चार महीनों के बाद मैं मैसूर लौट गया।

१९३३ ई० में मैं फिर बेलूड़ मठ आया, इस बार मैं संन्यास के लिए आया था। २३ जनवरी, १९३३ को स्वामी विवेकानन्द का जन्मदिन था। यह मेरे जीवन का एक बड़ा ही आनन्दमय अवसर था, परन्तु महापुरुष महाराज उस समय काफी दुर्बल थे और वे पुराने मन्दिर के पीछेवाले कमरे में होनेवाले अनुष्ठान में भाग लेने नहीं आ सके थे। वे अपने कमरे में ही बैठे रहे। संन्यास का हवन हो जाने पर, स्वामी हितानन्द तथा कृष्णात्मानन्द सहित हम नौ लोगों ने उनके कमरे में जाकर उनसे संन्यास के मंत्र, गैरिक वस्त्र तथा अपने अपने नाम प्राप्त किये। उल्लेखनीय है कि

अपने संघप्रवेश के चार-पाँच महीने बाद १९२७ ई० से ही, मैं महापुरुष महाराज की अनुमति से गेरुए वस्त्र पहन रहा था, परन्तु तब तक मैं संन्यास के विषय में कुछ अधिक नहीं जानता था।

मैं प्रायः चार महीनों तक मठ में ही टिका रहा। इस दौरान मेरे मन में सारगाछी जाकर अखण्डानन्द जी महाराज से मिलने की इच्छा हुई। स्वामी विवेकानन्द जी की ग्रन्थावली पढ़ते समय मैंने पाया था कि वे स्वामी अखण्डानन्द जी की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं। स्वामीजी के निर्धनों तथा दलितों की सेवा के सन्देश को सर्वप्रथम उन्होंने ही कार्यरूप में परिणत किया था। स्वामीजी ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था, "तुम्हीं मेरे आदमी हो, तुम्हीं मेरे आदमी हो!" अतः मैं अपने मन में भीतर-ही-भीतर सारगाछी जाकर अखण्डानन्द जी से मिलने की इच्छा पाले हुए था। इसके लिए मैंने महापुरुष महाराज से सारगाछी जाने की अनुमति ली। उन दिनों सप्ताहान्त के वापसी टिकट मिला करते थे, जो बड़े सस्ते थे। उस टिकट से शुक्रवार को जाकर रविवार को लौटना पड़ता था। अतः महापुरुष महाराज का आशीर्वाद लेकर मैं सारगाछी गया और वहाँ मेरा एक बड़ा ही अद्भुत सप्ताहान्त बीता। मैं अखण्डानन्द जी से मिला और प्रणाम करने के बाद उनके समक्ष अपने हृदय की कामना व्यक्त की। मैं सुदूर स्थित मैसूर से आया हुआ एक नवागन्तुक और चौबीस-पच्चीस साल का एक युवक मात्र था। परन्तु अखण्डानन्द जी ने एक विशेष अतिथि के रूप में मेरी देखभाल की। मेरे लिए विशिष्ट कप-प्लेट तथा केतली आदि के रूप में विशेष रूप से सारी व्यवस्था हुई थी। और वे छात्रावास के विद्यार्थियों से कहते, "जाकर स्वामीजी को प्रणाम करो।" उनकी उपस्थिति में ऐसा होते देखकर मैं उसका विरोध करते हुए कहता, "महाराज, यह आप क्या कहते हैं? क्या आपकी उपस्थिति में उनका मुझे प्रणाम करना उचित है?" परन्तु वे कहते, "अरे, तुम मैसूर से आये हो।" और फिर छात्रों की ओर उन्मुख होकर दुहराते, "प्रणाम करो।" और तब सभी बालक आकर मुझे प्रणाम करते।

एक दिन खेत में देरी हो जाने से वे भोजन के लिए विलम्ब से आये और बोले, "शंकर, मेरे शरीर में पीड़ा हो रही है।" मैंने पूछा, "क्यों?" महाराज ने उत्तर दिया, "एक सब्जी बहुत बड़ी हो गयी थी और मुझे झुककर उसे तोड़ना पड़ा।" मैंने कहा, "यहाँ पर इतने साधु-ब्रह्मचारी हैं, आपको स्वयं ही ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी?" वे बोले, "अरे, कहते क्या हो? ये सभी बुद्धू हैं; ये अपना ही

काम तो ठीक से नहीं कर पाते ! बेलूड़ मठ यहाँ बुद्धुओं को ही भेजता है।'' यह कहकर वे हँसने लगे। मैंने कहा, ''मुझे बड़ा खेद है कि आपको पीड़ा हो रही है।'' महाराज बोले, ''हाँ, मेरे शरीर में कुछ दोष उत्पन्न हो गया है।''

इस प्रकार वे मेरे साथ एक बालक के समान व्यंग-विनोद करते रहे। मैंने उनके अन्दर ऐसी सरलता के साथ ही बौद्धिक गम्भीरता तथा सहृदयता का भी अवलोकन किया। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, ''मेरा आश्रम तुम्हें कैसा लगता है ?'' मैंने उत्तर दिया, ''मुझे यह बड़ा अच्छा लग रहा है, यहाँ अच्छी नींद आती है।'' महाराज बोले, ''क्या कहा ? मेरा आश्रम क्या केवल सोने के लिए है ! परमानन्द यहाँ आया था। उसने बताया कि यहाँ पर उसका ध्यान अच्छा जमता है।'' मैंने उत्तर दिया, ''ठीक है, उनको उसी की आवश्यकता थी, परन्तु मैं अच्छी नींद चाहता था और वह मुझे यहाँ भलीभाँति मिल गयी है।''

इसी प्रकार दो दिन बीत गये। मेरी विदाई का दिन आ पहुँचा। मैंने कहा, ''महाराज, आप ठाकुर के अन्तरंग शिष्य है, फिर भी इस जंगल में निवास कर रहे हैं। और बेलूड़ मठ से बहुत से लोगों को आपका दर्शन करने यहाँ आना पड़ता है। अतः यदि आप बेलूड़ मठ में ही निवास करें, तो बहुत ही अच्छा रहेगा। मेरा अनुरोध है कि आप चलकर वहीं निवास करें।'' उन्होंने पूछा, ''इस आश्रम की देखभाल कौन करेगा ?'' मैं बोला, ''बेलूड़ मठ किसी को भेज देगा।'' वे बोले, ''मठ किसी बुद्धू को भेज देगा !'' इसके बाद वे हँसते हुए कहने लगे, ''यदि तुम यहाँ आकर रहो, तो मैं बेलूड़ मठ में जाकर निवास करने को तैयार हूँ।'' मैं बोला, ''बेलूड़ मठ यथावश्यक व्यवस्था कर देगा, परन्तु हम लोग आपको बेलूड़ मठ में ही चाहते हैं ताकि मैं तथा अन्य अनेक लोग आपका दर्शन कर सकें।''

इसके बाद ही मेरे रेल्वे स्टेशन जाने का समय हो गया। थोड़ी ही दूरी पर स्थित स्टेशन आश्रम से दिखायी देता है। मैंने उनके कमरे में जाकर प्रणाम किया और बोला, ''महाराज, मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए। मैं लोगों के बीच, विशेषकर युवावर्ग के बीच काम कर रहा हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं स्वामीजी (विवेकानन्द) का यंत्र बनकर उनके विचारों के द्वारा इन युवकों में प्रेरणा का संचार कर सकूँ। मुझे विश्वास है कि आपके आशीर्वाद से मुझमें वह क्षमता आ जायेगी। मैं स्वामीजी को नहीं देख सका, परन्तु आपसे मिला हूँ और वे आपके प्रति बड़ा स्नेहभाव रखते थे। आपका आशीर्वाद मेरे लिए स्वामीजी का ही आशीर्वाद है।''

ज्योंही मैंने ये बातें कहीं, उनका सारा विनोदपूर्ण भाव चला गया। वे बड़े गम्भीर हो गये और अपने दोनों हाथ मेरे सिर पर रखते हुए बोले, "मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, आशीर्वाद देता हूँ।" अपने भीतर मुझे एक उच्च भाव में उन्नीत हो जाने की अनुभूति हुई, मानो अन्दर से एक प्रकार की शक्ति का उन्मेष होने लगा। तदुपरान्त मैंने उन्हें प्रणाम किया और मौन धारण किये बरामदे में आकर रेल्वे स्टेशन की ओर चल पड़ा। जाते समय मैंने मुड़कर देखा, तो वे बरामदे में खड़े होकर मेरी ओर तब तक देखते रहे, जब तक कि मैं स्टेशन में प्रविष्ट नहीं हो गया।

कलकत्ते पहुँचकर, सबसे पहले मैं अद्वैत आश्रम और उसके बाद बेलूड़ मठ पहुँचा। मठ में पहुँचकर मैंने पाया कि स्वामी अखण्डानन्द जी वहाँ पहले से ही पहुँचे हुए हैं। कारण यह था कि वे सारगाछी से सीधे चले आये थे, जबकि मैं अद्वैत आश्रम होकर पहुँचा था। मेरे विदा होने के बाद ही उन्हें टेलीग्राम के द्वारा सूचना मिली थी कि महापुरुष महाराज को मस्तिष्क का पक्षाघात हो गया है। मुझे देखकर वे बोले, "शंकर, तारकदा की हालत देखो। क्या इसी के लिए तुमने मुझे बेलूड़ मठ आने को कहा था ? देखो, क्या हो गया।" प्रारम्भ में लगभग एक माह महापुरुष महाराज अचेत रहे और उनकी हालत बड़ी गम्भीर बनी रही। परन्तु धीरे धीरे उनकी चेतना लौट आयी। यद्यपि वे बोलने में असमर्थ रहे, परन्तु वे मुस्कुरा तथा हाथ हिला सकते थे। उनकी देखभाल में बड़ी सावधानी बरती गयी थी। उनके सिर पर हमेशा बर्फ की अनेक थैलियाँ रखी रहती थीं और उसी से उनकी हालत में सुधार हुआ था।

स्वामी अखण्डानन्द जी ने मुझसे कहा, "मुझे थोड़ा-सा वातरोग है। सुना है कि गुरुवायुर के श्रीकृष्ण-मन्दिर का तेल इसके लिए बड़ा उपयोगी है।" मैं बोला, "मैं उसे भेज दूँगा।" इसके बाद मैंने महापुरुष महाराज से विदा ली। उन्होंने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाये और अपने प्रिय सेवक शंकर महाराज (स्वामी अपूर्वानन्द जी) को संकेत किया, "इसे चामुण्डा मन्दिर और आश्रम में ठाकुर को चढ़ाने के लिए कुछ दे दो।" शंकर महाराज उनका तात्पर्य समझ गये। उन्होंने कुछ रुपये लाकर मुझे दे दिये। उन्हें तथा अखण्डानन्द जी को प्रणाम करने के बाद मैंने मैसूर के लिए प्रस्थान किया। महापुरुष महाराज पहले चामुण्डा मन्दिर में दर्शन करने जा चुके थे, मैंने वहाँ जाकर और आश्रम में भी उनकी ओर से ठाकुर की पूजा की बेलूड़ मठ में उनके लिए प्रसाद तथा अखण्डानन्द जी के लिए तेल भेज दिया।

अगले साल १९३४ ई० की फरवरी में महापुरुष महाराज ने देहत्याग कर दिया और अखण्डानन्द जी अध्यक्ष हुए। संघ के अध्यक्ष महापुरुष महाराज तथा उपाध्यक्ष स्वामी अखण्डानन्द महाराज के साथ मेरा इतना ही सम्पर्क आया।

जब मैं एक ब्रह्मचारी के रूप में बेलूड़ मठ में ठहरा था, तो खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द) स्वामीजी के कक्ष के उत्तरी कमरे में निवास कर रहे थे। मैं उनके साथ भी कुछ समय बिताया करता था। वे गंगा की ओर के बरामदे में एक शिशु के समान लेटे हुए अपने हुक्के का रसास्वादन करते पड़े रहते थे। मैं उनके साथ बड़ा घुल-मिल गया था। मैं प्रायः ही जाकर उनकी बगल में बैठ जाता। वे मेरे साथ विभिन्न विषयों पर बातें करते और मैं उनके पेट पर हाथ फेरते हुए मालिश किया करता था।

बेलूड़ मठ की मेरी अगली यात्रा १९३७ ई० में श्रीरामकृष्णदेव की जन्म-शताब्दी समारोह के अवसर पर हुई थी। तब तक स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज अध्यक्ष बन चुके थे। वे सुदूर इलाहाबाद में निवास करते थे। बेलूड़ मठ से मैं वाराणसी गया। मैंने मन-ही-मन सोचा, "इलाहाबाद निकट ही है, क्यों न वहाँ भी जाकर संघ के वर्तमान अध्यक्ष स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज के दर्शन कर लूँ!" अतः वाराणसी से मैं इलाहाबाद गया। १ अप्रैल १९३७ ई० को मैंने आश्रम में जाकर महाराज को प्रणाम किया। उस समय वहाँ एक ग्रुपफोटो लिया गया था, जिसमें महाराज बीच में और मैं तथा कुछ अन्य भक्त उनके चारों ओर बैठे थे। अध्यक्ष बन जाने के बाद यह उनका पहला फोटोग्राफ था। परन्तु वह फोटोग्राफ लगता है कहीं गुम हो गया है। इलाहाबाद आश्रम से हाल ही में प्रकाशित नये एलबम में वह फोटो नहीं है। वह एक अप्रैल का दिन था और ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वशासन के रूप में उसी दिन सभी प्रान्तों में कांग्रेस-सरकारों ने सत्ता सम्भाली थी।

मैंने देखा कि सदा के समान उस दिन भी विज्ञानानन्द जी की जेब में सेविंग सेट आदि बहुत सारी चीजें भरी हुई थीं। विज्ञानानन्द जी की वह एक असामान्य विशेषता थी। जब मैंने उनसे कहा, "मैं आपका आशीर्वाद लेने आया हूँ," तो वे बोले, "हाँ, हाँ, तुमने मुझे देख लिया है और अब जाकर नल से पानी पीने के बाद तुम वापस जा सकते हो।" मुझे उनकी यह बात बड़ी मजेदार लगी। मैं पहले से जानता था कि वे एकाकी रहना ही पसन्द करते हैं। परन्तु अन्य संन्यासियों ने एक

बंगाली भक्त के घर मेरे लिए भोजन की व्यवस्था कर रखी थी और उस दिन मुझे अपने जीवन का सर्वोत्तम भोजन प्राप्त हुआ। इसके बाद मैं वाराणसी, फिर कलकत्ता और वहाँ से मैसूर चला गया। विज्ञानानन्द जी इसके पूर्व मद्रास तथा मैसूर जा चुके थे और वहाँ उन्होंने कुछ भक्तों को दीक्षा भी दी थी।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जब मैंने पहली बार 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ पढ़ा था, तभी से मेरे मन में इसके लेखक श्री 'म' या महेन्द्रनाथ गुप्त के प्रति अत्यन्त प्रीति तथा श्रद्धा का भाव उदय हुआ था। अतः १९२९ ई० में जब मैं ब्रह्मचर्य के लिए बेलूड़ मठ में ठहरा हुआ था, तभी मुझे उनके पास जाकर उनके प्रति अपनी सप्रीति श्रद्धा अर्पित करने का सुअवसर मिला था। एक दिन मैं दो अन्य साधुओं के साथ श्री 'म' का दर्शन करने के लिए कलकत्ता गया। उन्होंने केवल श्रीरामकृष्ण के विषय में ही चर्चा की और श्रीरामकृष्ण को छोड़ किसी अन्य विषय पर बातें नहीं की। विदा लेते समय उन्होंने हमें एक डलिया भरकर फल तथा मिठाइयाँ दीं। उसे ग्रहण करते समय मैंने उनसे पूछा, "क्या यह ठाकुर को निवेदित करने के लिए है?" उन्होंने कहा, "नहीं, नहीं, यह साधुओं के लिए है। यही बहुत है। ठाकुर ने मुझे साधुओं की सेवा करने को कहा था।" ये ही शब्द उनके मुख से निकले थे। मैं उसे मठ ले आया और साधुओं में वितरण के लिए भण्डार में दे दिया।

स्वामी अभेदानन्द जी के कलकत्ता के आश्रम में जाकर मुझे उनसे भी मिलने का सौभाग्य हुआ था। उन्होंने अपने व्याख्यानों के विषय में चर्चा की। मैंने उनके व्याख्यान पढ़े थे। १९३७ ई० में श्रीरामकृष्ण-जन्म-शताब्दी के अवसर पर कलकत्ते के टाउन हाल में आयोजित उनका व्याख्यान भी मैंने सुना। वह एक बड़ा ही रोचक व्याख्यान था। उसी समय मैंने विश्वविद्यालय संस्थान में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्याख्यान भी सुना।

जहाँ तक महापुरुष महाराज का प्रश्न है, उनका पथ-प्रदर्शन मेरे लिए आध्यात्मिक शक्ति का एक प्रबल स्रोत था। मेरे पत्रों के उत्तर में वे मुझे 'प्रिय यतीचैतन्य' या 'प्रिय शंकरन' के रूप में सम्बोधित किया करते थे। ये पत्र उनके सचिव द्विजेन महाराज या स्वामी गङ्गेशानन्द की हस्तलिपि में हुआ करते थे। एक बार मैंने उनसे पूछा था कि क्या इन पत्रों में उनकी स्वयं की भी कुछ पंक्तियाँ हैं। उन्होंने उत्तर दिया था, "कदापि नहीं। सब उन्हीं का था; वे जो कुछ बोलते थे, मैं केवल उतना ही लिखता था।" १९२७ से १९३१ ई० के दौरान मैंने महापुरुष

महाराज से आध्यात्मिक निर्देश माँगते हुए कोई आठ पत्र लिखे थे और मुझे उन सभी को समुचित उत्तर प्राप्त हुए थे। मैंने वे पत्र बेलूड़ मठ के रामकृष्ण-संग्रहालय को सौंप दिये हैं। १९२७ ई० के एक पत्र में महापुरुष महाराज ने वाराणसी से लिखा था, "मुझे तुम्हारा पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ... यदि तुम्हें अपने-आप में और ठाकुर की कृपा में विश्वास है, तो तुम्हें निश्चित रूप से विजय प्राप्त होगी। वे जी-जान से प्रयास करनेवाले की सहायता करते हैं, यही उनका स्वभाव है। सदैव स्मरण रखना कि उनका वरद हस्त सर्वदा तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। नहीं तो, काफी काल पूर्व ही तुम नष्ट होकर एक साधारण जीव बन चुके होते। इसलिए भय की कोई बात नहीं। ... उनकी कृपा से तुम्हारे मन का स्वभाव बदल जायेगा और वह तुम्हारा विश्वस्त सेवक बन जायगा।"

७ जुलाई, १९३० ई० को बेलूड़ मठ से लिखे एक अन्य पत्र में महापुरुष महाराज ने मुझे लिखा, "तुम्हारा पत्र तथा चामुण्डी देवी का प्रसाद मिला। मैं तुम्हें आशीष देता हूँ। इतनी जल्दी यहाँ फिर आने की आवश्यकता नहीं है। रेलभाड़े के रूप में इतना खर्च करने की क्या जरूरत ? ... जहाँ कहीं भी रहो, श्री गुरु महाराज से प्रार्थना करते रहो। केवल उन्हीं की कृपा से तुम्हें शान्ति मिल सकती है। इधर-उधर यात्रा करने की आवश्यकता नहीं। कर्म को मत छोड़ना, बल्कि उसके साथ प्रार्थना तथा ध्यान को समायोजित करने का प्रयास करो।"

इसलिए मैंने तपस्या के लिए इधर-उधर जाने के विषय में कभी चिन्ता नहीं की। मैंने यह समझ लिया कि संघ में सम्मिलित होने के दिन से ही मेरी तपस्या आरम्भ हो चुकी है और संघ का मेरा जीवन तथा कार्य ही मेरे लिए तपस्या है। स्वामी विवेकानन्द के पत्रों में से एक वाक्य ने मेरे व्यक्तित्व के विकास में बड़ा योगदान किया है, "गम्भीरता के साथ शिशुवत सरलता को जोड़ना सीखो।"

तो ये हुई श्रीरामकृष्ण के पाँच संन्यासी शिष्यों – स्वामी शिवानन्दजी, अखण्डानन्दजी, सुबोधानन्दजी, अभेदानन्दजी तथा विज्ञानान्दजी और मास्टर महाशय की मेरी पुण्य-स्मृतियाँ। ❑
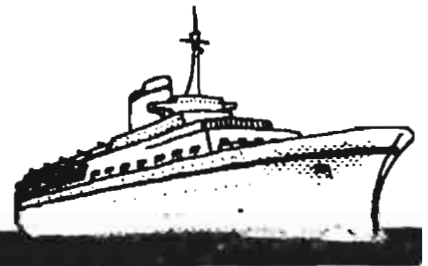
अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नई - ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहु-आयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। अनेक वर्षों से भक्तों तथा अनुरागियों की यह हार्दिक इच्छा थी कि मठ के परिसर में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो ।

श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा और इसमें उनकी पूरे आकार की संगमरमर की मूर्ति लगायी जायेगी।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। इस मन्दिर पर लगभग साढ़े छह करोड़ अनुमानित लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर की आधारशिला रखी। मन्दिर का निर्माण सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है और नयी शताब्दी के आरम्भ में इसका उद्घाटन होने की सम्भावना है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को सभी की शुभेच्छा तथा सहयोग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। इस मद में दिये जानेवाले सभी दान आयकर से मुक्त हैं। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट `Ramakrishna Math, Chennai' के नाम से बनवाकर भेजें। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायेगा। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे।

प्रभु की सेवा में
स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

For Details Contact : Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Chennai-4
Phone (91) (44) 494-1231 & 494-1959, Fax 493-4589

माँ सारदा की स्मृतियाँ

रोशन अली खाँ

(माँ के जन्मस्थान जयरामबाटी के निकट स्थित शिरोमणिपुर के रोशन अली खान से सुनकर निम्नलिखित स्मृतियाँ डॉ. तड़ित कुमार बन्द्योपाध्याय ने १४ मई १९९३ ई. को लिपिबद्ध कर लिया था। उस समय रोशन अली की आयु लगभग ९१ वर्ष थी। बाद में इसे संघ के बँगला मासिक 'उद्बोधन' के जुलाई, '९६ के अंक में मुद्रित किया गया और तदुपरान्त ''श्री श्री मायेर पदप्रान्ते' नामक पुस्तक में संकलित किया गया है। प्रस्तुत है वहीं से इसका हिन्दी रूपान्तरण – सं.)

जब मैंने माँ का (पहली बार) दर्शन किया, उस समय मेरी आयु तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी। मेरे चाचा मुफेती शेख तथा हमेदी शेख ही जयरामबाटी में मुझे माँ के घर ले गये थे। हमारा शिरोमणिपुर गाँव शिहड़ के निकट स्थित था और हमारे गाँव के निकट ही परमानन्दपुर गाँव में उन लोगों का निवास था। इन दोनों गाँवों के अनेक नर-नारियों के साथ माँ का विशेष स्नेहपूर्ण सम्पर्क था। इसी शिरोमणिपुर के अमजद, उसकी पत्नी मोतीजान बीबी तथा उसकी माँ फातिमा बीबी के प्रति माँ का अत्यन्त स्नेह था। लगभग माँ के भरोसे ही उन लोगों की गृहस्थी चला करती थी। अमजद प्रायः ही गाँव से अनुपस्थित रहा करता था और ऐसे समय उसके घर में कोई अभाव या समस्या आने पर उसकी माँ तथा पत्नी जयरामबाटी में माताजी के पास आ पहुँचती थीं। माँ से उन लोगों का कष्ट सहा नहीं जाता था। वे उन लोगों को भरपेट गुड़-मुरमुरे तो खिलाती ही, साथ ही उन्हें सिर पर लगाने को तेल, चावल, कपड़े तथा और भी बहुत-सी चीजें दिया करती थीं।

शिरोमणिपुर और परमानन्दपुर में उन दिनों शहतूत की खेती हुआ करती थी। जमींदारों के माध्यम से अंग्रेज व्यापारी किसानों को रुपये उधार देकर उन्हें शहतूत की खेती करने को बाध्य किया करते थे। वे लोग अपनी जमीन पर दूसरी कोई फसल नहीं उगा पाते थे। जमींदारों तथा अंग्रेजों के आतंक के बीच ही इन दोनों गाँवों के लोग अपना जीवन बिताते थे। इन दोनों गाँवों में अधिकांशतः मुसलमानों का ही निवास था। ठीक ठीक खेती न हो पाने के कारण उन लोगों को हर तरह के अभाव लगे ही रहते थे। शिहड़, जिबटा, जयरामबाटी, फुलुई, श्यामबाजार अंचल के धनी अथवा मध्यवर्ग के लोगों का मुसलमानों की इस दुःख-दुर्दशा की ओर ध्यान नहीं जाता था। एकमात्र माँ ही अपनी परम ममता के साथ हमारे दुःखों के प्रति

सहानुभूति रखती थीं। जाति-पाति, धर्म आदि का भेद बिसारकर उन्होंने हम लोगों के लिए भी अपनी गोद उन्मुक्त कर दी थी।

हमेदी शेख, मुफेदी शेख तथा रमजान पठान बैलगाड़ी चलाने का धन्धा करते थे। वे लोग अपनी बैलगाड़ियों में यात्रियों को विष्णुपुर पहुँचा दिया करते थे। मैंने उन लोगों को अनेक बार श्री माँ तथा उनकी भतीजियों को कोयलपाड़ा से जयरामबाटी या जयरामबाटी से कोयलपाड़ा ले जाते देखा है। कभी कभी वे लोग जयरामबाटी से उन्हें विष्णुपुर के रास्ते कलकत्ता भी ले जाया करते थे।गाड़ीवान के रूप में मेलजोल के अतिरिक्त भी माँ के साथ उनका नियमित सम्बन्ध बना रहता था। जब माँ का नया मकान बना, तो उसके लिए मिट्टी की दीवाल बनाने के लिए आनेवाले मजदूरों में अधिकांश शिरोमणिपुर तथा परमानन्दपुर के लोग ही थे। शिहड़ के पास माँ के भाइयों की थोड़ी-सी जमीन पर मुफेती शेख खेती किया करता था। हमेदी शेख की पत्नी नफीजन बीबी और मुफेती शेख की पत्नी मजीरन बीबी के साथ भी माँ का विशेष स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था। बीच बीच में वे लोग माँ के घर जाया करती थीं। माँ उन्हें 'बीबी बहू' कहा करती थीं। वे उन्हें भरपेट खिलातीं और उनके सुख-दुख की बातें भी सुना करतीं।

माँ का जब नया मकान बना, तब शरत् महाराज जयरामबाटी आये थे।[१] उस समय वे शिरोमणिपुर तथा परमानन्दपुर भी गये थे। मैंने उन्हें देखा है। माँ के इस नये मकान के निर्माण ने ही शिरोमणिपुर तथा परमानन्दपुर के लोगों के लिए माँ के धनिष्ठ सम्पर्क में आने का सुयोग बना दिया था। उन दिनों उस अंचल के हिन्दुओं में जात-पात को लेकर बड़ी संकीर्णता फैली हुई थी। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने घर में प्रवेश ही नहीं करने देते थे। माँ के नये मकान के निर्माण के समय मुसलमान मजदूरों को काम पर लगाने के कारण जयरामबाटी के कट्टर ब्राह्मणों ने बहुत आपत्ति की थी। उन लोगों ने माँ को 'म्लेच्छ' तक कहने में कोई संकोच नहीं किया। माँ के सम्बन्धियों ने भी उन्हें हम लोगों को काम पर लगाने से मना किया था। सिर ढँके बिना माँ लोगों के सामने नहीं निकलती थीं। वे अत्यन्त धीमे स्वर में

---

१. स्वामी सारदानन्द जी ने १९१५ ई० के अप्रैल में, जयरामबाटी में माँ के नये मकान बनाने की तैयारी आरम्भ की। उस बार उन्होंने लगभग एक माह जयरामबाटी में निवास किया था। मकान बन जाने पर १५ मई, १९१६ ई० को माँ ने गृहप्रवेश किया। माँ को कलकत्ते ले आने के लिए जुलाई के प्रथम सप्ताह में स्वामी सारदानन्द जयरामबाटी पहुँचे और ८ जुलाई को उन्होंने माँ के साथ कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया।

बोलतीं, परन्तु जिसे अन्याय समझतीं, उसका निर्भयतापूर्वक प्रतिवाद करतीं। इस विषय में वे किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करती थीं। मुहल्ले के लोगों के विरोध के कारण दो-एक दिन माँ के मकान का कार्य बन्द रहा। बाद में सुना है, इस पर माँ ने कहा था कि वे केवल हम लोगों से ही कार्य करायेंगी। माँ की दृढ़ता के समक्ष गाँव के कट्टरपन्थियों को आखिरकार हथियार डाल देना पड़ा था। इसके बाद से माँ के घर में हम लोगों का खूब आना-जाना होने लगा।

उन दिनों जयरामबाटी में कुछ भी नहीं मिलता था। बदनगंज तथा कोतुलपुर में बड़े बाजार लगते थे और शिरोमणिपुर में भी एक छोटा बाजार लगता था। गाँव के प्रत्येक घर में थोड़े-बहुत शाक-भाजी की खेती हुआ करती थी। मुफेती चाचा प्रायः ही अपने खेत की लौकी, कुम्हड़े, सहजन की फली, अरवी आदि सब्जियाँ लेकर माँ के गाँव जाया करते थे। उनके मुख से एक घटना मेरे सुनने में आयी थी। वे बताया करते थे – "माँ मानवी नहीं, बल्कि कोई पीर-दरवेश हैं। एक बार एक लौकी लेकर मैं माँ के घर गया था। वहाँ पहुँचकर देखा तो माँ अपने नये घर में पूजा करने बैठी हुई थीं। माँ के घर में मेरा हमेशा आना-जाना लगा ही रहता था, अतः मुझे कोई संकोच नहीं लगा। मैं उन्हें पुकारकर कहा, 'माँ ! लौकी लाया हूँ।' मेरी पुकार सुनकर एक महिला आकर बोलीं, 'थोड़ा ठहरो, माँ पूजा में बैठी हैं।' मैंने दूर से देखा कि माँ पूजा के आसन पर विराजमान हैं। आंगन के एक किनारे मैं लौकी तथा उसका शाक लेकर खड़ा था। सहसा माँ की ओर दृष्टि जाने पर मैंने देखा कि माँ आसन पर नहीं हैं और उनका बैठा हुआ शरीर आसन से लगभग दो हाथ ऊपर है। माँ ठीक उसी प्रकार बैठी हुई थीं, परन्तु उनका आसन नीचे पड़ा हुआ था। माँ शून्य में बैठी हुई जप कर रही थीं। मैं मन-ही-मन सोच रहा था कि कहीं मुझे दृष्टिभ्रम तो नहीं हो गया है ! आँखें मलकर देखा, तो फिर वही दृश्य दिखाई दिया। मूर्ख की भाँति हड़बड़ी में मैं महाराज लोगों को बुलाने जा रहा था, कि देखा तो वैसा कुछ भी नहीं है। इसके बाद आसन से उठकर आने पर मैंने माँ को प्रणाम किया। परन्तु उन्हें प्रणाम करते हुए बड़ा भय लग रहा था। माँ ने एक महिला को मुरमुरे-गुड़ तथा सिर में लगाने को तेल देने को कहा। वह सब लेकर मैं चला आया, परन्तु माँ से कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नहीं हुई।"

मुसलमान पुरुषों के समान ही मुसलमान महिलाएँ भी माँ के घर जाया करती थीं। शिरोमणिपुर की कई ऐसी औरतें फल-सब्जी आदि बेचने जयरामवाटी जाती

थीं। प्रौढ़ आयु की सबीना बीबी उनमें से एक थी। वह प्रायः ही माँ के घर जाती। वह कोतुलपुर से आम-कटहल आदि लेकर जयरामवाटी में बेचने जाती थी। माँ की माँ भी उससे बड़ा प्रेम करती थीं। माँ उसे चाची कहा क़रती थीं।

उन दिनों शिरोमणिपुर तथा शिहड़ अंचल में खजूर के पेड़ों की बहुतायत थी। लोग उन वृक्षों के ऊपरी हिस्से में चीरा लगाकर खजूर के रस का बरतन लटका देते थे। प्रतिदिन लगभग सौ पेड़ों से खजूर का रस उतारा जाता था और उसी रस से गुड़ बनाया जाता था। शजहान खाँ, मजीर खाँ, सादिक अली, रफी मियाँ आदि अनेक लोग खजूर के रस का व्यवसाय किया करते थे। वे लोग कोतुलपुर, बदनगंज, कामारपुकुर चट्टी, गोघाट आदि स्थानों में जाकर खजूर के गुड़ की बिक्री किया करते थे। उनमें से अधिकांश की वही आजीविका थी। इस गुड़ के निर्माण का कार्य बड़ा ही परिश्रमसाध्य है। हमारे यहाँ भी खजूर के रस का व्यवसाय था। मैं अनेकों बार खजूर का रस तथा गुड़ लेकर माँ के घर गया हूँ। माँ को ये चीजें अत्यन्त प्रिय थीं। खजूर का गुड़ ले जाने पर माँ पैसे देती थीं। इन्कार करने पर वे कहतीं, "बेटा, यह मेहनत की चीज है न, इसलिए पैसे लेना चाहिये।" पैसे देने के बाद माँ ऊपर से बहुत-सा प्रसाद, मुरमुरे आदि भी देतीं।

शिरोमणिपुर के दूदू फकीर तथा सलीम फकीर भी माँ के घर जाया करते थे। नवान्न (नयी फसल) के उत्सव के समय वे लोग चामर डुलाते हुए भिक्षा माँगा करते थे। माँ की उनके प्रति बड़ी स्नेह-भक्ति थी। शिरोमणिपुर के पीर के दरगाह में वे (मिट्टी के) घोड़े तथा सिन्नी (मिठाई) की मन्नत मानती थीं। हमेदी और मुफेती चाचा कहा करते थे, "माँ की कैसी भक्ति है! हम लोगों के पर्व-त्यौहार पर भी वे सिन्नी और बतासे चढ़वाती हैं।" मफेती चाचा ने माँ से पूछा था, "माँ, आप लोग तो हिन्दू हैं, फिर मुसलमानों के पर्व पर सिन्नी-बतासे क्यों भिजवाती हैं?"

माँ ने कहा, "बेटा, देवता भी क्या अलग होते हैं? सब एक ही तो हैं। जानते ही हो बेटा, तुम्हारे ठाकुर ने इस्लाम-धर्म की साधना भी की थी। उन दिनों वे मुसलमानों की ही तरह नमाज भी पढ़ा करते थे। सब एक ही है बेटा, केवल नाम में ही भेद है।" मुफेती चाचा तथा हम लोगों पर माँ का जैसा विश्वास था, वैसा ही स्नेह भी था।

काफी काल पूर्व एक बार माँ के मन्दिर पर बिजली गिरी। इस पर किशोरी महाराज (स्वामी परमेश्वरानन्द) ने मुफेती चाचा से कहा था, "अरे मुफेती, माँ के

मन्दिर पर बिजली गिरी। एक बार अजान देना तो!" मुफेती चाचा ने महाराज के आदेशानुसार मन्दिर के पास अजान भी दिया था। किशोरी महाराज माँ के पास ही बड़े हुए थे। वस्तुतः माँ से ही शिक्षा पाकर वे लोग भी सभी धर्मों के पोषक थे। हम लोग ठाकुर तथा माँ को पीर-पैगम्बर के रूप में ही देखते हैं। हमेदी और मुफेती चाचा को मैंने देखा है, वे लोग हृदय से ठाकुर-माँ के प्रति यही भाव रखते थे। उन लोगों के समान मनुष्य का और आयेंगे ? वे लोग तो अल्ला के ही दूत हैं, बहिश्त के फरिश्ते हैं। ❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

– ६६ –

तुम प्रभु का कार्य किये जा रहे हो यह बड़े आनन्द की बात है। कार्य के पीछे भाव होना चाहिए। प्रभु कहा करते थे, "यथा भाव तथा लाभ।" ऋषीकेशी साधुओं की विशेष प्रशंसा सुनी है। वे कहते कि साधु-समाज में कोई अव्यवस्था होने पर ऋषीकेश के साधु जो कहते हैं, वही मान्य होता है। स्वामीजी उनका गुणगान करते हुए उन्मत्त हो जाते थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी के कनखल में रहते समय उन्हें हृषीकेश के साधुओं को बड़े यत्नपूर्वक आहार आदि कराते तथा स्तुति करते मैंने स्वयं देखा है। अत: कैसे कहूँ कि ऋषीकेश के साधु बुरे हैं? जहाँ कहीं भी रहो, बस इतना ही कि प्रभु को न भूलना। उन्हीं को लेकर सब कुछ है, जगह में क्या रखा है? हम लोग कहाँ जायँगे या रहेंगे, यह मुझे नहीं पता। सिर्फ इतना ही जानता हूँ कि प्रभु जो करेंगे, वही होगा। मेरा और क्या आदेश होगा? यदि कुछ हो भी, तो यही कि प्रभु का आश्रय लो, उन्हीं को अपना बनाओ, उन्हें मत भूलना, इतना ही। उन्हें पकड़े रहने से कोई भी भय नहीं है। खूँटी को पकड़कर घूमने से गिरने का भय नहीं रहता। सत्संग अवश्य ही बहुत आवश्यक है, परन्तु वह भी इसलिए कि वह उनकी याद दिलाता है। नहीं तो फिर सत्संग में और क्या खास बात है?

– ६७ –

प्रभु की इच्छा क्या है, यह वे ही जानें! वे मानवीय बुद्धि के अगोचर हैं, तथापि शास्त्रों तथा महापुरुषों से हम शिक्षा पाते हैं कि वे मंगलमय हैं। हमारी

दृष्टि में कोई कोई चीज अति भयंकर तथा असंगत प्रतीत होने पर भी, वे उसी के माध्यम से मंगल-विधान किया करते हैं। इसी बुद्धि को दृढ़तापूर्वक रख पाने से चित्त में शान्ति रहती है, नहीं तो महा अशान्ति और दुख अनिवार्य है।

भोक्तारं यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। (गीता, ५/२९)

— वह मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महान ईश्वर तथा सर्वभूतों का सुहृद जानकर, शान्ति को प्राप्त होता है।

वे सभी के सुहृद और कल्याणकारी हैं, यह जानने से ही शान्ति मिलती है — ऐसा गीता का वाक्य है।

तुम्हारा वर्णन पढ़कर हृदय को क्लेश हुआ, परन्तु मुझे लगता है कि प्राणपण से प्रभु की सेवा करने का यही मौका है। स्वामीजी की वह बात याद है न — "बहु रूपों में अपने समक्ष खड़े हुए ईश्वर को छोड़कर तुम उन्हें कहाँ ढूँढ़ते हो?"[१] इन अकाल-पीड़ितों की यथासाध्य ठीक ठीक सेवा करने पर निःसन्देह जान लेना कि उन्हीं की सेवा हुई है। धन्य हो तुम लोग! प्रभु ने तुम्हें ऐसा सुअवसर दिया है — प्राणपण से सेवा करो और जीवन को सार्थक कर लो। ज्यादा क्या कहूँ। भावपूर्वक सेवा करने पर मन स्वतः ठीक हो जायगा। ऐसा करके इसकी सत्यता की जाँच कर लो। बिना किये कैसे समझ सकोगे? काम आदि सब कहाँ चले जायेंगे। काम तो दुर्बलता छोड़ और कुछ भी नहीं है। जैसे अग्नि में ईंधन न रहने पर वह अपने आप ही बुझ जाती है, वैसे ही काम का उद्रेक होने पर उसका भोग न करने से वह स्वतः ही शान्त हो जाता है। उस समय भगवान से खूब प्रार्थना करना और रोना, तब देखोगे कि फिर उसका उदय न होगा।

ध्यान-जप प्रतिदिन जितना भी हो सके, करना। और कर्म को कर्म नहीं, प्रभु की पूजा समझना। "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् — हे शम्भो, मैं जो कोई भी कर्म करता हूँ, वह सब तुम्हारी ही आराधना के लिए है।"[२] "योगः कर्मसु कौशलम् — कर्म में कुशलता को ही योग कहते हैं।"[३] इसी कर्म को भगवत्-अर्पण करके पूजा में परिणत कर लेने से, यही योग हो जाता है। इसी में बहादुरी है। प्रभु के अधीन, अहंबुद्धि से रहित होकर कार्य करने से,

१. स्वामी विवेकानन्द की 'सखा के प्रति' कविता का अंश
२. शिवमानसपूजास्तोत्रम्, ४ ३. गीता, २/५०

वही कार्य पूजा कहलाती है । यही बात स्मरण रखने से तो सब हो गया । एकबारगी न कर पाने पर-भी धीरे धीरे इसका अभ्यास करना होगा । इसी से हो जायगा ।

– ६८ –

बाँकुड़ा की दुर्दशा के बारे में ज़ानकर मुझे बहुत क्षोभ हुआ है । कहाँ तो ऐसे समय में तुम यथासाध्य प्राणपण से दुखियों की सेवा करके धन्य हो जाओगे, परन्तु तुमने विपरीत बुद्धि का परिचय दिया है । मैं पढ़कर अवाक और अत्यन्त दुखी हुआ हूँ । इस कार्य से मुक्त होने के लिए तुमने मेरा आशीर्वाद माँगा है; इससे मुक्त होने पर तुम करोगे क्या? ईश्वरसेवा? "जो जीवों से प्रेम करता है, वही ईश्वर की सेवा कर रहा है" – यह बात भूल गये क्या? स्वामीजी तुम्हारे लिए मुक्ति का इतना सरल उपाय दे गये हैं और तुम इतनी जल्दी उसे भूलने लगे – "बहु रूपों में अपने समक्ष खड़े हुए ईश्वर को छोड़कर तुम उन्हें कहाँ ढूँढ़ते फिरते हो?" "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते – कर्म आरम्भ किये बिना मनुष्य कर्म से परे नहीं जा सकता ।"[४] कर्म किये बिना कर्म से मुक्त कैसे होओगे? इस प्रकार की विपरीत बुद्धि का अवलम्बन करके, आलस्य को प्रश्रय देकर, तमोगुणी होने का प्रयास न करना । वरन् प्राणपण से कर्म करके, कर्म क्यों, पूजा करके (क्योंकि जीवसेवा कर्म नहीं, यथार्थ ईश्वरपूजा है; इस वास्तविक पूजा के द्वारा) अपने आपको धन्य करो । यह निश्चित जान लेना कि ऐसा मौका सदा नहीं आता । किमधिकमिति ।

– ६९ –

तुम्हारा पत्र और उसके साथ दो रेखाचित्र पाकर आनन्दित हुआ । थियॉसाफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित तथा और भी दो-लोगों द्वारा बनाए हुए ऐसे चक्र मैं पहले भी देख चुका हूँ । परन्तु सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है – यह देहचक्र, जिसमें पड़कर ब्रह्मा-विष्णु तक हाँफ रहे हैं । इसीलिए ठाकुर गाया करते थे – "श्यामा-माँ ने क्या ही विचित्र मशीन बनाई है, काली-माँ ने क्या ही अद्भुत यंत्र का निर्माण किया है ! इस साढ़े तीन हाथ की मशीन में रहकर वह कितने ही खेल दिखा रही है ! स्वयं वह मशीन के भीतर रहती है और डोर को पकड़कर उसे परिचालित करती है । परन्तु यंत्र बेचारा नहीं जान पाता कि उसे कौन घुमा

४. गीता, ३/४

रहा है, अत: वह कहता है कि मैं स्वयं ही घूम रहा हूँ। जो यंत्र में अवस्थित उन (माँ) को जान गया है, उसे फिर यंत्र नहीं बनना होगा। फिर किसी किसी यंत्र से तो, भक्तिडोर के द्वारा काली स्वयं ही बँधी हुई हैं।"[५]

इसी देहयंत्र के भीतर वे रहती हैं और उन्हें जान लेने पर ही यंत्र होने से बचा जा सकता है। नहीं तो फिर भँवर के बीच में रहना होगा – "चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च – दुख और सुख, चक्र के समान घूमते हुए बारी बारी से आते रहते हैं।"[६] इसीलिए रामप्रसाद कहते हैं – "माँ, आँखों से आवरण हटा लो, ताकि मैं तुम्हारे उन अभयपदों को निरख सकूँ।" माँ कृपा करके हमारी आँखों का आवरण उठा लें – उनसे मेरी यही एक प्रार्थना है।

– ७० –

इस समय यदि (पीड़ित) नारायण की सेवा कर सको, तो वास्तव में धन्य हो जाओगे। जितने भी दिन जीवित रहोगे कार्य तो करने ही होंगे, क्योंकि "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् – कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता।"[७] परन्तु कर्म यदि कौशल के साथ किया जाय, तो वह कर्म न रहकर योग हो जाता है – योग: कर्मसु कौशलम्।"[८] कर्तृत्व-बोध त्यागकर अपने आपको प्रभु के हाथ का यंत्र समझकर कर्म करना और उसका सारा फल उन्हीं को अर्पित करना – इसी को कौशल कहते हैं। अथवा कर्म को कर्म नहीं, बल्कि उनकी पूजा समझकर करने से, वह पूजा के समान ही चित्तशुद्धिकर होकर कर्ता को मुक्त कर देता है। स्वामीजी तुम लोगों के लिए 'नारायण-सेवा' रूप कर्म दिखा गये हैं, परन्तु तुम लोग यदि इसका सदुपयोग न कर सको, तो निःसन्देह यह अत्यन्त दुख का विषय है।

देखो, तुम्हें जैसा उचित लगे, वैसा करना। ऐसे 'नारायण-सेवा' का जहाँ तक हो सके, त्याग न करना। इससे भला होगा। ठीक-ठीक भाव के साथ इसकी परीक्षा करके देख सकते हो। भाव चाहिए, अन्यथा सब वृथा है।

❑ ❑ ❑

---

५. रामप्रसाद सेन के एक बँगला भजन का भावार्थ

६. (महाभारत, शान्तिपर्व, १७४/१९)

७. गीता ३/५ ८. गीता २/५०

वेदान्त परम्परा और श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन की शताब्दी के उपलक्ष्य में विगत १६ से १८ जनवरी तक रामकृष्ण मठ, नागपुर में एक समारोह का आयोजन किया गया था। इसके अन्तिम दिन अपराह्न में 'रामकृष्ण-वेदान्त-आन्दोलन' विषय पर स्वामी जितात्मानन्द जी की अध्यक्षता में एक परिचर्चा आयोजित की गयी थी। प्रस्तुत है उसी सभा में पठित एक निबन्ध का अनुलिखन। - सं.)

आज की चर्चा का विषय है – रामकृष्ण-वेदान्त आन्दोलन। किसी किसी ने इसे नव्य-वेदान्त का भी नाम दिया है, परन्तु इस विषय को मैं जिस ढँग से रखना पसन्द करूँगा, वह है 'वेदान्त परम्परा और श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द'। पिछले हजारों वर्षों के दौरान भारत में वेदान्त को लेकर अनेक आन्दोलन हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व काल में भगवान बुद्ध, श्रीकृष्ण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, गुरु नानक आदि प्रातःस्मरणीय अवतारों तथा आचार्यों के आगमन से पूरे देश में जो एक वैचारिक क्रान्ति की लहर दौड़ गयी और शताब्दियों तक भारतीय जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती रही, उसी प्रकार वर्तमान युग में भगवान श्रीरामकृष्ण तथा युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के आगमन से विश्व की विचारधारा में जो अव्यक्त तथा मौन क्रान्ति आ रही है, इसी को 'रामकृष्ण-वेदान्त आन्दोलन' कहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव से एक नये युग का, सतयुग का सूत्रपात हुआ है और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति में अभी अनेक शताब्दियाँ लगेंगी। जो भावधारा विश्व की आनेवाली अनेक पीढ़ियों को गति तथा दिशा प्रदान करनेवाली है, उस नव्य वेदान्त को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें अनादि काल से चली आ रही वैदिक परम्परा का एक सिंहावलोकन करना होगा और तभी हम उसमें श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के अवदान का आकलन कर सकेंगे।

'वेद' क्या है

वैदिक परम्परा अनादि इसलिए कही जाती है कि सृष्टि के आरम्भ में यह साहित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म के निःश्वास के रूप में प्रकट हुआ। बृहदारण्यक में है, **"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतयदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरसः"**

(२.४.१०)। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने अपने संकल्प से ब्रह्मा के हृदय में निःश्वास के समान सहज भाव से वेदों का प्राकट्य किया। और वेदों में निरूपित नियमों के अनुसार ही ब्रह्मा द्वारा हर कल्प में सृष्टिरचना होती है – **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**।

वैदिक साहित्य : एक परिचय

इस प्रकार वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। अब लौकिक या ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें। ग्रन्थों के रूप में हमें जो वेद प्राप्त हैं, उनकी भाषा आदि के आधार पर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि उनके अनेक अंशों को ४००० से ८००० वर्षों पूर्व लिपिबद्ध किया गया होगा। जिस विशाल वाङ्मय को हम 'वेद' के नाम से जानते हैं, उसमें ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व नाम की चार संहिताएँ हैं; और वेदाङ्ग के रूप में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष शास्त्र हैं। फिर प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ भी थीं, जिनमें से सैकड़ों लुप्त हो चुकी है, परन्तु आज भी उनमें से अनेक उपलब्ध हैं। अब से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व महर्षि पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य में सामवेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख है, जिनमें से अधिकांश अब नहीं मिलतीं। शाखाओं सहित इस विराट् वैदिक वाङ्मय को कालक्रम की दृष्टि से चार भागों में बाँटा जाता है। उपरोक्त चारों संहिताओं में से प्रत्येक के अपने पृथक् अनेक ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थ हैं।

संहिताओं में मुख्यतः देवताओं की स्तुतियाँ हैं। शतपथ, ऐतरेय, शांखायन, तांड्य, षड्विंश, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों की विभिन्न प्रक्रियाओं का विवरण देते हुए संहिताओं से स्तुतियों का संकलन किया गया है। इसका तीसरा अंश है आरण्यक। प्राचीन आर्य परम्परा के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य था कि वह अपने जीवन के चौथेपन में गृह त्यागकर वानप्रस्थी बन जाय और जाकर अरण्य में निवास करे। वन में यज्ञ के साधनों तथा उपकरणों का अभाव था, अतः तैत्तिरीय, ऐतरेय, शांख्यायन, बृहत्, तवल्कार आदि आरण्यक ग्रन्थों में उनके लिए मानसिक यज्ञों का विधान हुआ। इन मानसिक यज्ञों को उपासना या विद्या भी कहते हैं। इन उपासनाओं से ही परवर्ती काल में भक्तिमार्ग का विकास हुआ। ये आरण्यक ही मानो वैदिक याग-यज्ञों के साथ उपनिषदों के दर्शन को जोड़ने की कड़ी थे। दो सौ से अधिक की संख्या में उपलब्ध उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। इनमें वैदिक ज्ञान का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। इनमें भक्तिमार्गियों के लिए विभिन्न प्रकार की उपासनाओं तथा ज्ञानमार्गियों के लिए ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है।

बृहदारण्यक आदि कुछ प्राचीन उपनिषदों में हमें आरण्यक तथा उपनिषद अर्थात उपासना तथा आत्मविज्ञान — दोनों के ही तत्त्व प्राप्त होते हैं।

संक्षेप में, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इसी परम्परा क्रम से विकसित हुआ है। सर्वप्रथम — देवी-देवताओं की स्तुतियाँ, फिर याग-यज्ञों का विधान, तदुपरान्त मानसिक उपासनाएँ और अन्त में औपनिषदिक तत्त्वज्ञान।

उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड

मानव समाज को अधिकार-पात्रादि के भेद से इन चारों ही विधियों की आवश्यकता है। परन्तु कर्म तथा उपासना की प्राचीन वैदिक परम्परा का अब प्रायः लोप हो चुका है। आज उनके विवरण पढ़ते समय लगता है मानो हम किसी दूसरे ही जगत् में विचरण कर रहे हों। क्योंकि वर्तमान हिन्दू-समाज में कुछ अलग ही प्रकार के देवी-देवता, पूजा-अनुष्ठान तथा उपासनाएँ दीख पड़ती हैं। परन्तु वेदों का ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों का तत्त्वज्ञान अब भी यथावत् अक्षुण्ण बना हुआ है।

ये उपनिषदें संख्या में दो सौ से भी अधिक है, परन्तु ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, ऐतरेय, तैतरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक — जिन दस पर आचार्य शंकर ने भाष्य लिखे हैं तथा श्वेताश्वतर, महानारायण, कौशीतकी, जाबाल आदि जिन ५-६ से उन्होंने उद्धरण दिये हैं, कुल मिलाकर ये १५-१६ उपनिषदें ही प्राचीन तथा प्रामाणिक मानी जाती हैं। इनमें साकार तथा निराकार बोधक, सगुण तथा निर्गुण बोधक, द्वैत-विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत बोधक — भिन्न भिन्न प्रकार के अधिकारियों के लिए उपयुक्त विभिन्न प्रकार की श्रुतियाँ हैं। इस कारण उनमें कहीं कहीं परस्पर अन्तर्विरोध-सा प्रतिभात होता है। इस प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "भारत के द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद — सभी वेदान्त के अन्तर्गत आते हैं। बौद्धधर्म का सार भाग इन्हीं उपनिषदों से लिया गया है और यहाँ तक कि जैनधर्म के भी उत्तमोत्तम सिद्धान्त इनमें वर्तमान हैं। परवर्ती काल के पुराणों तथा अन्यान्य स्मृतियों में इतनी पूर्णता के साथ विकसित भक्ति का आदर्श भी उपनिषदों में बीज रूप में विद्यमान हैं। यहाँ तक कि कोई भी ऐसा पूर्ण विकसित भारतीय आदर्श नहीं है, जिसका मूल स्रोत उपनिषदों में न खोजा जा सकता हो। उपनिषदों में प्रेम और ज्ञान का धर्म है।[१] भक्ति की बातें प्राचीनतम उपनिषदों तक में विद्यमान हैं और संहिताओं में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। वेदमंत्रों में जो 'श्रद्धा' शब्द का उपयोग है, उसी से क्रमशः भक्तिवाद का उद्भव हुआ।"[२]

१. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ५, पृ. १२६ २. वही, खण्ड १०, पृ. ३८५

श्रीकृष्ण और व्यास का अवदान

फिर क्रमशः वैदिक परम्परा यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के भार से अत्यन्त बोझिल हो गयी और जैसा कि उपनिषदों में जगह जगह प्रतिध्वनित होता है, अनेक लोग उनकी निःसारता के विषय में आवाजें उठाने लगे। ईसा के जन्म के कई हजार पूर्व भगवान श्रीकृष्ण तथा महर्षि वेदव्यास का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में वैदिक यज्ञों तथा उपासनाओं को एक अभिनव रूप प्रदान करते हुए उपनिषदों के समस्त ज्ञान के साथ उनका सामञ्जस्य स्थापित किया। कहा भी तो गया है – 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।' वादरायण व्यास ने भी "वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् – वेदान्तवाक्य रूपी विभिन्न प्रकार की श्रुतियों रूपी पुष्पों को एक सुन्दर माला के रूप में ग्रथित करने हेतु ब्रह्मसूत्र लिख कर वेदान्त के समस्त तत्त्वों के बीच सामंजस्य स्थापित किया। पाणिनी ने इस ग्रन्थ का 'भिक्षुसूत्र' के नाम से उल्लेख किया है।

प्रस्थानत्रय

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता – इन तीनों को एकत्र करके प्रस्थानत्रय अस्तित्व में आया और ये तीनों वैदिक तत्त्वज्ञान के मूल आधार बन गये। वैसे तो इन्हें संन्यासियों के लिए विशेष उपादेय माने गये, तथापि पूरे हिन्दू दार्शनिक तत्त्वज्ञान का ढाँचा इन्हीं पर खड़ा हो गया। किसी को भी यदि अपना स्वतंत्र मत स्थापित करना है, तो उसे इन तीनों ग्रन्थों की व्याख्या लिखकर अपने मत की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ती थी। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (१६/२३) में बताया – "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्र-विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि – अतः क्या करणीय है और क्या अकरणीय, इसका निर्णय करने में शास्त्र ही तुम्हारा प्रमाण है। शास्त्र का विधान जानकर ही तुम्हें कर्म करना चाहिए।" और शास्त्र का तात्पर्य इन तीन ग्रन्थों के में निबद्ध हो गया।

परन्तु वास्तविक समस्या तो तब उत्पन्न हुई, जब शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि महान आचार्यों ने उपरोक्त ग्रन्थों की व्याख्या के द्वारा अपने अपने भिन्न मतों का प्रतिपादन किया। इन व्याख्याताओं को मुख्यतः अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। इनकी एकांगी व्याख्या के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "अद्वैतवादी भाष्यकार जब अद्वैत सम्बन्धी श्रुतियों की व्याख्या करते हैं, तो अपने अनुकूल भाव तो वैसे ही रहने देते हैं, परन्तु जब वे

द्वैतभाव वाले मंत्रो की व्याख्या करने में प्रवृत्त होते हैं, तब शब्दों की खींचातानी करके वे उनमें से बड़े अद्‌भुत अर्थ निकालते हैं। इसी प्रकार और बल्कि उनसे भी अधिक अनुचित ढंग से द्वैतवादी भाष्यकारों ने श्रुतियों की व्याख्या की है। जहाँ उन्हें द्वैत के अनुकूल श्रुति मिली, उसको उन्होंने सुरक्षित रखा, परन्तु जहाँ भी अद्वैत के अनुसार पाठ आया है, वहीं उन्होंने मनमाने ढंग से व्याख्या की है।[३] ... शंकराचार्य ने भी जगह जगह शास्त्रों का ऐसा अर्थ लगाया है, जो मेरी समझ में समीचीन नहीं है और रामानुज ने भी कहीं कहीं शास्त्रों का ऐसा तात्पर्य निकाला है, जो स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। हमारे विद्वानों की ऐसी धारणा है कि इन समस्त सम्प्रदायों में से एक ही सत्य है और बाकी सब झूठे हैं। ... (उनकी दृष्टि में) या तो अद्वैतवाद सत्य है, या विशिष्टाद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद।[४]

वर्तमान समन्वय

यह विवाद भारतवर्ष में लगभग ड़ेढ़ हजार वर्षों से चल रहा है। प्रत्येक मत-वाले संस्कृत भाषा में अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखकर अपने विरोधियों के मत का खण्डन करते हुए यह प्रमाणित करने का प्रयास करते रहे कि एकमात्र उन्हीं का दर्शन सत्य है और बाकी सभी भ्रान्तिपूर्ण हैं। पिछली शताब्दी में भगवान श्रीरामकृष्ण ने आकर इस विवाद का यथोचित समाधान किया। यह समाधान उन्होंने किस प्रकार किया, इस विषय में स्वामीजी कहते हैं, "विधाता की इच्छा से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के साथ निवास करने का अवसर मिला, जो जिसने पक्के द्वैतवादी थे, उतने ही पक्के अद्वैतवादी भी थे, जैसे परम भक्त थे वैसे ही परम ज्ञानी भी थे।[५] ... श्रीरामकृष्ण के जीवन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये दोनों मत आवश्यक हैं।[६] ... इस व्यक्ति के साथ रहकर पहली बार मेरे मन में आया कि उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों को अन्धविश्वास पूर्वक भाष्यकारों का अनुसरण न करके – स्वाधीन भाव तथा उत्तम रूप से समझना चाहिए। मैं अपने (अध्ययन तथा) अनुसन्धान से इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ये समस्त शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं, उनमें अपूर्व सामंजस्य विद्यमान है, (उनमें निरूपित) एक तत्त्व मानो दूसरे का सोपान स्वरूप है। समस्त उपनिषदों में मुझे यही भाव देखने को मिला है – सर्वप्रथम उनका द्वैतभाव के वर्णन, उपासना आदि से आरम्भ हुआ है (और) अन्त में अपूर्व अद्वैतभाव के उच्छ्वास में उनका उपसंहार हुआ है।[७]

---

३. वही, खण्ड ५, पृ. १२८ ४. वही, खण्ड ५, पृ. २३८ ५. वही, खण्ड ५, पृ. १२८
६. वही, खण्ड ५, पृ. २२८ ७. वही, खण्ड ५, पृ. १२८

द्वैत तथा अद्वैतवाद – ये दोनों मत खगोल विज्ञान (एस्ट्रानामी) के भूकेन्द्रिक (जियोसेन्ट्रिक) तथा सूर्यकेन्द्रिक (हेलियोसेन्ट्रिक) मतों की भाँति हैं। बालक को खगोल सिखाते समय पहले भूकेन्द्रिक सिद्धान्त ही बताया जाता है और जब वह ज्योतिष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन करता है, तब उसके लिए सूर्यकेन्द्रिक सिद्धान्त की शिक्षा आवश्यक हो जाती है। और इससे उसकी समझ भी पहले से अच्छी हो जाती है। (वैसे ही) पंचेन्द्रियों में फँसा हुआ (देहात्म बुद्धियुक्त) जीव स्वभावतः द्वैतवादी होता है। ज़ब तक पंचेन्द्रियों के साथ हमारा तादात्म्य है, तब तक हम सगुण ईश्वर की ही धारणा कर सकते हैं। ... परन्तु मनुष्य के जीवन में ऐसा भी समय आता है, जब उसका शरीरबोध बिल्कुल चला जाता है और मन भी क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता हुआ प्रायः अन्तर्हित हो जाता है, जब देहबुद्धि में फँसाये रखनेवाली भीति, दुर्बलता आदि सब मिट जाते हैं, (तब वह निर्गुण ब्रह्म की धारणा करने में सक्षम होकर अद्वैतवादी हो जाता है)।[८]

स्वामीजी की स्थापना

१८९७ ई० में जब स्वामीजी पाश्चात्य देशों की अपनी विजय-यात्रा के बाद वापस भारत लौटे, तो उन्होंने अपना यह सिद्धान्त भारतवासियों के समक्ष रखा। उन्होंने बताया कि हम भ्रान्ति से सत्य की ओर नहीं, अपितु निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर अग्रसर होते हैं और द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत की अनुभूतियाँ मानो सर्वोच्च अद्वैत की उपलब्धि के मार्ग की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मद्रास में उनके दोपहर की एक बैठक के दौरान एक श्रोता पूछ बैठा, "यदि यही बात सत्य है, तो फिर आपके पहले के किसी आचार्य ने यह बात क्यों नहीं कही ?" स्वामीजी ने संस्कृत भाषा में उत्तर देते हुए कहा, "इसलिए कि मैंने इसी कार्य के लिए जन्म ग्रहण किया है और इस सत्य की घोषणा करना मेरे लिए ही बचा हुआ था।"[९]

इन तीनों दर्शनों की मीमांसा करते हुए स्वामीजी ने बताया है, "उपनिषदों में सब प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान में पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, द्वैतवाद उन्हीं में से एक है। धर्म में सर्वदा तीन सोपान देखने में आते हैं। प्रथम द्वैतवाद। उसके बाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था में उपस्थित होता है – वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त में उसे यह अनुभव होता है

८. वही, खण्ड ५, पृ. २३८

9. The Master as I saw him, Sister Nivedita, Calcutta, Ed. 1972. P. 235

कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड से अभिन्न है। यह चरम अवस्था ही अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं है, बल्कि ये आपस में एक-दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

"सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परि-दृश्यमान उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के अधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है।" ... फिर इन तीनों मतों का सामंजस्य करते हुए स्वामीजी एक जीवन्त उदाहरण देते हैं, "यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह सूर्य के निकट नहीं पहुँचता, तब तक वह सूर्य को क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा, उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्यों को देख रहा है, परन्तु वास्तव में वह उसी एक सूर्य को देख रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं, सभी उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं, इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य हैं। इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।[१०]

इस प्रकार स्वामीजी ने दिखाया कि वेदान्त दर्शन द्वैतवाद से प्रारम्भ होकर, विशिष्टाद्वैत से होता हुआ, शुद्ध अद्वैतवाद में विकसित होता है। वर्तमान समय में समाज की जो स्थिति है, उसमें इन तीनों अवस्थाओं की नितान्त आवश्यकता है, ये परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक हैं।[११]

कर्म-ज्ञान समुच्चय

कुछ लोगों के मन में ऐसा प्रश्न उठता है कि क्या शांकर वेदान्त के साथ स्वामीजी के 'शिवज्ञान से जीवसेवा' या 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त का समन्वय हो सकता है। इस सन्दर्भ में एक सुनी हुई घटना है। पता नहीं इसमें कितनी सत्यता है, परन्तु इससे यह विषय काफी स्पष्ट हो जाता है। कहते हैं कि एक बार किसी मठ के एक शंकराचार्य बेलुड़ मठ में आये। हमारे मठ के एक वरिष्ठ संन्यासी ने उन्हें गुरुस्थानीय मानकर उनका ससम्मान स्वागत किया। चर्चा के दौरान श्री शंकराचार्य ने कहा कि "आप लोग भी तो आचार्य के मत को माननेवाले प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके मत के विपरीत सेवारूपी घोर कर्म में डूबे हुए हैं।" उपरोक्त संन्यासी ने कहा,

१०. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड १०, पृ. ३८४ ११. वही, खण्ड १०, पृ. २१४-१५

"आप लोग शंकराचार्य के आधे मतवाद में ही विश्वासी है, परन्तु हम लोग तो उन्हें पूरा पूरा स्वीकार करते हैं।" आचार्य ने पूछा, "वह कैसे ?" उन संन्यासी ने उत्तर दिया, "आचार्य का कहना है कि – **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**। इसमें से आप लोग तो केवल पूर्वार्ध को ही मानते हैं, परन्तु हम उसके साथ ही उत्तरार्ध को मानते हुए जीव को भी ब्रह्म मानकर उसकी सेवा करते हैं।"

श्री शंकराचार्य ने भी चित्तशुद्धि के लिए अनेक प्रसंगों में सेवा आदि कर्मों की उपयोगिता स्वीकार की है। और कर्मत्याग की बातें जहाँ वे करते हैं, वह तो सिद्ध के लिए सकाम कर्म का निषेध है, न कि साधक के लिए निष्काम कर्म का। स्वयं भी तो वे आजीवन अथक रूप से परोपकारार्थ कर्म में निरत रहे। अपने ईशावास्य-उपनिषद्-भाष्य में उन्होंने ज्ञानमार्ग के साथ ही साथ कर्म तथा उपासना (अर्थात भक्ति) मार्ग पर भी सविस्तार चर्चा की है। स्वामीजी के शब्दों में "शंकराचार्य कहते हैं कि अद्वैतवाद ही वेदों का गौरव-मुकुट स्वरूप है, परन्तु वेद के अन्य निम्न भागों का भी प्रयोजन है, क्योंकि वे हमें कर्म तथा उपासना का उपदेश देते हैं और इनकी सहायता से भी अनेक लोग भगवान के निकट पहुँचते हैं। आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़ा रहता है, उसी को हटाने के लिए, बन्धन तथा भ्रम को दूर करने के लिए, कर्म तथा उपासना का प्रयोजन है। अद्वैतवाद जिस अवस्था में ले जाता है, कर्म तथा उपासनाएँ भी उसी अवस्था में ले जाती हैं।"[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न आचार्यों ने वेदों के ज्ञानकाण्ड की एकांगी व्याख्या की है और उनके अनुयायी एक-दूसरे के मतों का खण्डन करने में लगे हुए हैं। वर्तमान युग में आवश्यकता इस बात की है कि श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के भावालोक में इस विचारों का गहन अध्ययन करके, आधुनिक विश्व के विभिन्न मतवादों तथा मानवमात्र की आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, उपनिषदों-ब्रह्मसूत्र तथा गीता के सर्वांगीण, समन्वयवादी तथा उदारतापूर्ण भाष्य लिखे जायँ। स्वामीजी सम्भवतः स्वयं ही यह कार्य सम्पन्न करते, परन्तु उनकी जीवनलीला अत्यन्त अल्पकालिक थी और अपना बहुत-सा कार्य वे आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ गये हैं। सुना है कि स्वामीजी के एक विद्वान शिष्य श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ने ब्रह्मसूत्रों पर 'विवेकभाष्य' लिखा था, परन्तु लगभग एक शताब्दी के बाद भी अब तक वह प्रकाशित नहीं हो सका है। ❑

---

१२. वही, खण्ड ७, पृ. ६४

स्वामी सत्यरूपानन्द

हमारी शताब्दी में जिन महापुरुषों ने प्राचीन जीवन-मूल्यों का अपने जीवन में प्रयोग करके यह दिखा दिया कि भारत की सर्वांगीण उन्नति तथा विश्वशान्ति की प्राप्ति के लिए भारत के पास एक सर्वांगीण पूर्ण जीवन-दर्शन है, जिसे धर्म, जाति, रंग, लिंग आदि सभी भेदों से सर्वथा निरपेक्ष रहकर विश्व के सभी मनुष्य ग्रहण कर सकते हैं, उनमें आचार्य विनोबा का नाम अन्यतम है। वे सत्य के अन्वेषक और अहिंसा के पुजारी थे। उन्हें इसकी प्रेरणा महात्मा गांधी से मिली थी, किन्तु जीवन में सत्य का सन्धान तथा अहिंसा का प्रयोग उन्होंने भारत की आध्यात्मिक विद्या के शाश्वत सिद्धान्तों के अनुसार ही किया था। गीता और उपनिषद उनकी प्रेरणा के अक्षय स्रोत थे। ब्रह्मविद्या ही उनके जीवन का संबल था। जीवन में ब्रह्मविद्या के आचार का नाम ही तो आध्यात्मिकता है। इस विद्या का अध्येता तथा प्रयोगकर्ता ही विश्वप्रेमी होकर जगत्-कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित कर सकता है। आचार्य विनोबा इसके एक जाज्वल्यमान प्रत्यक्ष प्रमाण थे। उन्होंने लोक-कल्याण रूपी यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दे दी।

विनोबाजी किसी मत या वाद के आग्रही न थे। उनका लक्ष्य था सत्य और वे यह मानते थे कि सत्य की उपलब्धि विचार और प्रेम के द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए उन्होंने कभी किसी मतविशेष का आग्रह नहीं किया। किन्तु एक विचारक होने के नाते उनके मन में सभी मतों के प्रति आदर का भाव था तथा जिस मत में जो भी अच्छी बातें मिलती, उसे वे ग्रहण कर लिया करते थे।

विनोबाजी स्वयं कहा करते थे कि मैं एक विचारक हूँ, अत: मेरे पास विचार हैं। विचारों का आदान-प्रदान किया जा सकता है। उन पर विचार-विमर्श किया जा सकता है, उनमें शोध और सुधार किया जा सकता है। किन्तु मत के सम्बन्ध में ऐसा करना कठिन है। मत प्राय: रूढ़ और संकुचित हो जाते हैं। इसके कारण उन्नति और विकास का मार्ग प्राय: अवरुद्ध हो जाता है। मतों और वादों के कारण संघर्ष के इस युग में विनोबाजी की यह शिक्षा हमारे लिए विशेष

उपयोगी है। हमें मतों, वादों आदि के सम्बन्ध में भी सहानुभूति और उदारतापूर्वक विचारों का आदान-प्रदान करना चाहिए। क्योंकि विचार-विमर्श के द्वारा ही हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं।

विनोबाजी की दूसरी मान्यता यह थी कि शक्ति प्रेम और विचार में होती है। अत: हमें अपने हृदय में विशुद्ध प्रेम विकसित करना चाहिए। बिना प्रेम के, विचार शुष्क दुराग्रह बन सकते हैं। फिर विचारों के आदान-प्रदान के लिए भी यह आवश्यक है कि दूसरों के विचारों को प्रेमपूर्वक सुना और समझा जाय। आचार्य विनोबा की यह दृढ़ मान्यता थी कि प्रेम की शक्ति ही असल शक्ति है। अत: व्यक्ति और समाज दोनों की समस्याओं का समाधान प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। अणु बम के इस युग में विनोबाजी के ये विचार दीपस्तम्भ के समान हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।

आचार्य विनोबा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा व्यावहारिक शिक्षा है, "सब मेरे हैं और मैं सबका हूँ।" अपने इन विचारों और भावनाओं के कारण उन्होंने अपने जीवन में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, जाति-पाति आदि के सभी बन्धनों को तोड़ दिया था। अपने ब्राह्मणत्व की विशेषता तथा अभिभाव को दूर करने के लिए उन्होंने अपनी चोटी काट डाली थी। दूसरे धर्मों को भी ठीक ठीक समझने के लिए उन्होंने बाइबिल और मूल कुरान के कई पारायण किये। जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि धर्मों के ग्रन्थों का भी उन्होंने अध्ययन किया। विनोबाजी की यह सीख हमारी आज की समस्याओं के समाधान में बहुत सहायक हो सकती है। यह भावना कि सभी हमारे अपने हैं, समाज में भाई-चारे के भावों को दृढ़कर हमें विश्वबन्धुत्व की ओर ले जा सकता है।

विनोबाजी के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को उनके वे विचार हमारे सामने प्रज्वलित दीपक के समान स्पष्ट कर देते हैं, जो उन्होंने १९५६ में कर्नाटक में हुई ग्रामदान परिषद के सामने रखे थे। उन्होंने कहा था कि मेरी यह मूलभूत श्रद्धा है कि हर एक मनुष्य के हृदय में अन्तर्यामी विराजमान हैं। ऊपर से जो बुराइयाँ दिखती हैं, वे गहराई में प्रवेशकर वहाँ जो अच्छाइयाँ भरी पड़ी हैं, उनको बाहर लाने की कोई तरकीब मिलनी चाहिए।

भारतीय जीवन-दर्शन का यही मूल सूत्र है। वेद, वेदान्त, गीता, पुराण आदि सभी शास्त्रों के उपदेशों का सारतत्त्व यही है। अपने इन विचारों को आचरण में

लाने के लिए विनोबाजी ने तीन सूत्र बताए – (१) हृदय-परिवर्तन (२) जीवन-परिवर्तन और (३) समाज-परिवर्तन।

समाज की सर्वांगीण उन्नति और कल्याण का यही अमोघ उपाय है। इस उपाय के द्वारा विश्व के सभी राष्ट्र परस्पर मैत्री-सम्बन्ध रखकर चिरस्थायी विश्वशान्ति की भी स्थापना कर सकते हैं।

इस त्रिविध परिवर्तन का मूल स्वर पवित्रता, प्रेम और अहिंसा है। संत विनोबा के जीवन में ये दिव्य गुण प्रकाशित हुए थे। आज की परिस्थितियों को देखकर तो यही लगता है कि संत विनोबा के जीवनकाल में उनके विचार तथा उपदेश जितने उपयोगी और प्रासंगिक थे, उसकी तुलना में आज उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता कहीं अधिक है। विनोबाजी ने वैचारिक क्रान्ति का जो बीज बोया है, वह यथासमय अवश्य ही पल्लवित और पुष्पित होगा।

❑ ❑ ❑

स्वयं को जानो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है ? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है ? जगत में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। अतएव उठो और मुक्त हो जाओ। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए। तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है ? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या ? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत के ईश्वर हो। कहो, 'शिवोऽहं शिवोऽहं, मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।' पिंजड़े को तोड़ डालनेवाले सिंह की भाँति तुम अपने बन्धन तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ।

— स्वामी विवेकानन्द

गीता का जीवन-दर्शन

लेखक – भैरवदत्त उपाध्याय, कांकेर (बस्तर)
पृ० ३०+२०१ मूल्य – रुपये २००/-
विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर

(समीक्षात्मक आलेख)

आलोच्य ग्रन्थ गीता के तेरहवें अध्याय में वर्णित अभय, सत्त्वशुद्धि, दान, दम, यज्ञ; स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, सरलता, त्याग, शान्ति, दया, क्षमा, लज्जा, निर्लोभता आदि छब्बीस प्रकार की दैवी सम्पदाओं की व्याख्या करनेवाला एक बहुमूल्य ग्रन्थ है । ये दैवी सम्पदाएँ विभिन्न मानवीय मूल्यों पर आधारित हैं, जिनके अभाव में न तो मानव आत्मकल्याण कर सकता है और न ही विश्वकल्याण की ही कल्पना की जा सकती है । वस्तुत: ये सम्पदाएँ गीतारूपी ज्ञान के क्षीरसागर को मथकर निकाला गया ऐसा नवनीत है, जिन्हें अपनाकर मनुष्य ऐहिक जगत के सारे पुरुषार्थों के साथ ही मोक्ष तक की प्राप्ति कर सकता है ।

लेखक ने ग्रंथ के प्रारम्भ में ही दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "दैवी सम्पत्तियाँ विमोक्ष के लिए हैं और आसुरी सम्पत्तियाँ बन्धनकारी हैं ।" दैवी सम्पदाओं के निषेधात्मक रूप ही आसुरी गुण माने गये हैं। गीता द्वारा निर्दिष्ट इन दो मार्गों में से पहला दैवी मार्ग प्रकाश का है और उसके विपरीत आसुरी मार्ग अन्धकार की ओर ले जाता है; एक पुण्य का मार्ग है, तो दूसरा पाप का; एक प्रेम का मार्ग है, तो दूसरा घृणा का; एक शान्ति का मार्ग है, तो दूसरा अशान्ति का; एक योग का मार्ग है तो दूसरा भोग का ।

इसके पहले अध्याय में ही पूरे ग्रन्थ का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है और नित्से के 'महामानव', सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' तथा महर्षि अरविन्द के 'अतिमानव' के साथ गीता के मानवतावाद की तुलना करते हुए, गीता-दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है। उपरोक्त दैवी सम्पदाओं के साथ मानवीय मूल्यों तथा धर्म के गहन सम्बन्धों को भी स्पष्ट किया गया है । इस अमूल्य कृति का मूल उद्देश्य है — मानव को दिव्यता की प्रेरणा देकर उसे पूर्ण मानव बनाना और उसके लिए विकास की सारी सम्भावनाओं के द्वार खोलकर पूर्णत्व के उच्चतम शिखर तक पहुँचाना ।

वर्तमान भौतिकवादी युग में इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि मानवीय समाज आज जिस संक्रमण के दौर से होकर गुजर रहा है, जिस तीव्र गति से आज मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है, वैसा पहले कभी देखने-

सुनने में नहीं आया । मनुष्य आज मोह से आच्छन्न, अहंकार से ग्रस्त और विषाद से त्रस्त है । युवा पीढ़ी दिशाबोध को खोकर भटकते हुए, जीवन की सच्चाइयों से पलायन करना चाहती है । ऐसी स्थिति में यह 'गीता का जीवन-दर्शन' उसका पथ-प्रदर्शन कर सकता है और उसे सफल जीवन बिताने का मार्ग दिखाकर भीषण संकटों से उबारने में सहायक हो सकता है । इस संग्रह के सारे लेख मानव की दुर्बलताओं के विरुद्ध उसे गरिमा एवं ओजस्विता प्रदान करते हैं । गीता क्या है? लेखक के शब्दों में, "गीता जीवन का गीत एवं अमरता का संगीत है । यह आशा का दीप, ज्ञान का आलोक, कर्म का राजमार्ग, भक्ति का विटप और धैर्य का सम्बल है ।"

ग्रन्थकार ने प्रत्येक विषय पर अत्यन्त गहन अध्ययन तथा चिन्तन करने के बाद उस पर सविस्तार विवेचन किया है । प्रत्येक विषय को पुष्ट करने के लिए उपनिषदों से लेकर महाभारत तक असंख्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये गये हैं । 'नातिमानिता' अध्याय के अन्तर्गत 'अभिमान' तथा 'अहंकार' का विवेचन इतने प्रभावशाली ढंग से किया गया है कि पाठक बरबस ही अपने अन्तर्मन में झाँकने को विवश हो जाता है। देखिए मानव-मन का मनोवैज्ञानिक चित्रण कितनी कुशलतापूर्वक किया गया है — "अहंकारी मनोरोगी है । उसमें 'अपमान-भ्रम' एवं 'ऐश्वर्य-भ्रम' नामक मानसिक रोग हैं । इस प्रकार का रोगी अपने सम्मान के प्रति असाधारण रूप से सजग रहता है । हर समय उसे यह भ्रम होता है कि उसका अपमान किया जा रहा है । वह अपने को महान और महान उद्देश्यों के लिए ही अवतरित मानता है । उसमें संवेगों की अस्थिरता होती है और आक्रामकता जैसी प्रवृत्ति पनप जाती है । वह कु-समायोजित एवं विघटित व्यक्तित्व वाला होता है ।"

लेखक ने आत्मनिवेदन में ही अत्यन्त विनम्रता एवं ईमानदारी से यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ के लेखन में उसका मौलिक अवदान मात्र इतना ही है कि उसने मात्र एक ऐसे माली का ही कार्य किया है, जो दूसरों की बगिया में से अपने पसन्द के फूलों को चुनकर अपने मनोनुरूप माला तैयार करता है ।

इस पुस्तक की भाषा मुख्यतः साहित्यिक, परिष्कृत तथा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है, जो भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम है । शब्दों का चयन सुन्दर तथा सटीक है। शैली गम्भीर तथा चिन्तनप्रधान है । कहीं कहीं भाषा में क्लिष्टता एवं दुरूहता आ जाने के बावजूद इसमें लयात्मकता तथा संगीतात्मकता के तत्त्व भी मौजूद हैं । इस महान कार्य के लिए लेखक साधुवाद का पात्र है ।

– श्रीमती नीला दुबे, कांकेर